हमारे पड़ोसी राष्ट्र

लेखक—

श्री राममूर्ति सिंह, एम० ए०

प्रकाशक—

पं० भृगुराज भार्गव

अवध पब्लिशिंग हाउस

लखनऊ

प्रथम बार २०००] सन् १९४९ [मूल्य २॥)

स्नेहमयी माता को, जिनकी
अब स्मृति ही शेष है।

रामभूर्ति सिंह

भारतवर्ष के उप-परराष्ट्र-सचिव

डाक्टर बालकृष्ण केसकर

का सन्देश

हम अपने पड़ोसी देशों के बारे में बहुत कम जानते हैं। यूरोप और अमेरीका के बारे मे हमें पूरा पता है। उनकी भाषा, संस्कृति और इतिहास हमें रत्ती-रत्ती मालूम है। लंदन, न्यूयार्क और पेरिस मे क्या है इसको जानने की हर कोई कोशिश करता है। परन्तु हमारे आस पास जो राष्ट्र है, उनके संबंध में किसी को जिज्ञासा नहीं है।

और वस्तु स्थिति यह है कि हमारे राष्ट्र के लिये इन देशों की जानकारी पैदा करना, उनसे मित्रता करना और सम्पर्क स्थापित करना नितांत आवश्यक है। हमारे भविष्य के लिये उनका महत्व यूरोप और अमेरिका से कहीं अधिक है।

मुझे हर्ष है कि श्री राममूर्ति सिंह ने साधारण जनता के लिये तथा सुशिक्षितों के लिये यह परिचय देने वाली पुस्तक लिखी। यह अत्यंत उपयोगी है और मुझे आशा है कि ऐसी और पुस्तकें लिखी जायँगी। इससे इन देशों के संबंध मे जन साधारण का ज्ञान बढ़ेगा और दिलचस्पी भी बढ़ेगी।

नयी दिल्ली
२५. १. ४६

बालकृष्ण केसकर

भूमिका

एक समय था जब हम प्रकाश-स्तम्भ की तरह समस्त एशिया को प्रकाश देते थे और प्राच्य संसार, पथ-प्रदर्शन के लिए सदैव हमारी राह देखता था। एक समय वह भी था जब हमने सुदूर देशों में उपनिवेश बसाये, बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना की, और हमारे नाविकों ने पूर्व और पश्चिम से व्यवसायिक सम्बन्ध जोड़ा। सदियों तक हम एशिया के सांस्कृतिक और व्यवसायिक केन्द्र बने रहे। किन्तु एक समय ऐसा आया जब भाग्य के फेर से भारतीय गौरव का प्रकाश-स्तम्भ धूमिल हो चला और हम आत्म-विस्मृति की चिर निद्रा में मग्न हो गये। दासता के अन्धकार में पड़ोसी राष्ट्रों के साथ हमारा सम्पर्क टूट गया और हम एक दूसरे को भूल गये। अनिश्चित काल तक हम अन्धकार में पड़े रहे। किन्तु समय-चक्र फिर पलट चुका है। भारतवर्ष आज स्वतंत्र है। अतीत की स्मृतियाँ एक बार फिर हमारे सामने दौड़ने लगी है और वह समय दूर नहीं जब भारतवर्ष फिर अपने पड़ोसी राष्ट्रों का पथ-प्रदर्शक बनेगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अपने खोये हुये सम्पर्क को हम पुनः प्राप्त करें। विदेशी शासन ने हमें अपंग और संकुचित बना रखा था अब यदि हमें अपने पैरों खड़ा होना है तो पड़ोसी राष्ट्रों के साथ हमें निजी सम्पर्क पैदा करना होगा। विदेशियों ने जान बूझ कर हममें विभेद उत्पन्न किया और एक दूसरे को यथासम्भव पृथक रखा। उन्होंने जिनके विषय में जो कुछ कहा, हमने वही सच मान लिया। विदेशी सत्ता द्वारा प्रचारित भ्रामक धारणाओं को छोड़

कर हमें पारस्परिक कल्याण के लिए पड़ोसियों के साथ नया सम्बन्ध जोड़ना है। हमारे पड़ोस में कौन से लोग रहते है, उनकी रहन-सहन कैसी है, पहले उनसे हमारा सम्बन्ध क्या था, और अब क्या होना चाहिये, हमारे पड़ोस के देशो मे क्या हो रहा है, उनकी समस्याएँ क्या है, इन सब बातो की जानकारी हमारे लिए आवश्यक है। आज हमारे पड़ोस में जो कुछ हो रहा है उससे हम अपना मुँह मोड़ नहीं सकते। अतएव हमारे लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम इन राष्ट्रों के विषय में अपनी जानकारी बढ़ावें। पार्श्ववर्ती राष्ट्रों के विषय में हमारी जानकारी बहुत सीमित है। हममें से अधिकांश तो उनके विषय में प्राय: कुछ भी नहीं जानते। यह गुलामी का अभिशाप है। अंधेरे में अपनी परछाईं भी दिखाई नही पड़ती। अतएव इसमें आश्चर्य ही क्या कि गुलामी के अन्धकार में हम अपने लोगों को भी भूल गये ?

प्रस्तुत पुस्तक लिखने की मेरी चेष्टा बहुत कुछ अनधिकार चेष्टा है। ऐसी पुस्तक लिखने का अधिकारी तो वही व्यक्ति हो सकता है जिसे एशिया के राष्ट्रों के सम्बन्ध में निजी जानकारी हो। पुस्तकों और समाचार पत्रों से जो जानकारी हमें मिलती है वह अधूरी और कभी-कभी वास्तविकता से दूर भी होती है। इसके अतिरिक्त हमारे पड़ोस के राष्ट्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे है। उनकी स्थिति जो आज है वह कल नहीं रहेगी। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि प्रस्तुत पुस्तक में कुछ बातें ऐसी आ गयी हों जो वास्तविक न हों। किन्तु इस पुस्तक के लिखने में मेरा प्रयत्न कोई प्रमाणित पुस्तक लिखने का नहीं रहा है। मेरा अध्ययन और प्रयत्न बहुत कुछ स्वान्तः सुखाय रहा है। पड़ोसियों के विषय में मुझे नई और रोचक बाते मालूम हुई, उनके साथ अतीत काल से जातीय और सांस्कृतिक सम्बन्ध के

सूत्र मिले, उनके प्रति आत्मीयता की भावना जागृत हुई और स्वभावतः एक आन्तरिक सुख का अनुभव हुआ। यदि इस आनंद और आत्मीयता का थोड़ा भी आभास पाठकों को मिल सका और पड़ोसी राष्ट्रों के प्रति उनमें किंचित् मात्र भी उत्सुकता उत्पन्न हो सकी तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूँगा।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन देशों का उल्लेख किया गया है उनके विषय में दो शब्द कह देना आवश्यक प्रतीत होता है। विदेशी आधिपत्य से पहले भारतवर्ष का सम्पर्क एशिया के प्रायः हर एक देश से था। जापान से लेकर मिस्र तक इस सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु इस पुस्तक में एशिया के सभी देशों का वर्णन नहीं किया जा सका है। पड़ोसी राष्ट्रों की श्रेणी में केवल वे ही राष्ट्र लिये गये है जिनका किसी समय हमारे साथ निकट जातीय अथवा सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा। यही कारण है कि पुस्तक में कोरिया, जापान, रूस, आदि देशों का उल्लेख नहीं किया गया है। इन छूटे हुये देशों में से प्रधानतः जापान और ईराक के साथ कभी हमारा सम्बन्ध रहा, किन्तु इनमें से किसी के साथ निकट सम्पर्क का प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु इन देशों के छूट जाने का यह अर्थ नहीं है कि इनके साथ अपने सम्बन्ध को हम किसी दशा में गौण समझते है। हमें एशिया ही नहीं, एशिया से बाहर भी हर देश से राजनैतिक और व्यवसायिक सम्बन्ध जोड़ना है। सन्तोष की बात है कि राष्ट्रीय सरकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के प्रश्न पर पूर्णतया सचेत है और इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रही है।

पड़ोसी राष्ट्रों की सूची में पाकिस्तान को न देखकर सम्भवतः लोगों को आश्चर्य होगा। हो सकता है। कुछ लोग इसे साम्प्रदायिक द्वेष समझें। किन्तु वास्तव में इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है। अन्य राष्ट्रों की तरह हम पाकिस्तान को भी

एक अलग राष्ट्र मानते है और उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहते है। इस पुस्तक में पाकिस्तान का उल्लेख न आने के प्रधानत दो कारण है। पहला तो यह कि भारतवर्ष से अलग पाकिस्तान का अभी तक कोई अलग इतिहास नहीं है। अलग होते हुए भी पाकिस्तान सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का ही खंड है। भारत के पड़ोसी राष्ट्र पाकिस्तान के भी पड़ोसी है। पाकिस्तान के छूट जाने का दूसरा कारण यह है कि पाकिस्तान का अन्तिम और स्थायी रूप अभी भविष्य के गर्भ में है। इस विषय में हम अभी कोई अनुमान नहीं लगा सकते। वर्तमान स्थिति को देखते हुये उस पर कुछ न कहना ही उचित जान पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तक के तैयार करने में मुझे जिन शुभचिन्तकों और मित्रों से सहायता मिली है उनके प्रति यहाँ कृतज्ञता प्रकट करना मै अपना कर्तव्य समझता हूँ। भाषा-विज्ञान के प्रख्यात विद्वान् और हिन्दी के पोषक डाक्टर रघुवीर के कई लेखों से मुझे लंका, बर्मा, मलाया और हिन्द एशिया की भाषाओं मे संस्कृत शब्दो के संग्रह मिले। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस पुस्तक के कई अध्यायो के तैयार करने में मुझे प्रान्तीय अनुवाद विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर धर्मवीरजी और अपने मित्र श्री शिवनायकसिंह जी और श्री शंकरदयालसिंह जी से भी बहुमूल्य सहायता मिली जिसके लिए मै अपने इन मित्रों का सदैव आभारी रहूँगा। वैदेशिक विभाग के उप-सचिव डाक्टर बालकृष्ण केसकर ने प्रस्तुत पुस्तक के लिए अपना आशीर्वचन देकर मुझे प्रोत्साहित किया, एतदर्थ मैं उनका भी कृतज्ञ हूँ।

२५, सितम्बर १६४६
भिनगा हाउस,
२८, कैंटूनमेंट रोड, लखनऊ

राममूर्ति सिंह

विषय-सूची

अपनी बात

वैसे तो भारत मे राजनैतिक प्रगति का प्रारम्भ कांग्रेस के विकास के साथ ही साथ हुआ और आज एक इक्के वाले से लेकर कालेज का प्रोफेसर तक राजनीति की चर्चा कर अपनी मानसिक तुष्टि कर ही लेता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तथा देश का विभाजन हो जाने के फलस्वरूप आज प्रत्येक भारतीय के लिए यह आवश्यक हो गया है कि उसे इस बात का भली भाँति ज्ञान हो कि हमारा देश और हमारे पड़ोसी राष्ट्र क्या है। कैसे है, हमारे साथ उनका क्या सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है तथा हमारे उनके खान-पान, रहन-सहन और विचारों में क्या-क्या विभिन्नताएँ है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी दृष्टिकोण को लेकर प्रकाशित की जा रही है! लेखक ने भारत के पड़ोसी राष्ट्रों का वर्णन पुस्तक में बड़ी ही रोचक और मनोरञ्जक भाषा में किया है। हमारी धारणा है कि हिन्दी मे ऐसा प्रकाशन अपने ढंग का पहला प्रयास है। राजनैतिक तथा भौगोलिक दृष्टिकोण को लेकर तो ऐसी अनेक पुस्तके अनेक भाषाओं में होंगी परन्तु सभी देशो का वर्णन एक ही स्थान पर इस पुस्तक की विशेषता है। इस दृष्टिकोण से राजनीति के जिज्ञासुओ के लिए यह पुस्तक बड़े काम की है और उपयोगी है। कागज़ और छपाई के साधनो के दुर्लभ होते हुए भी पुस्तक को हमने सुन्दर और आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। आशा है पाठक पसंद करेगे और इसे अपनाकर भविष्य में हमे इस ढंग के प्रकाशन के लिए प्रोत्साहन देगे।

पान-दरीबा
लखनऊ

—प्रकाशक

लंका अथवा सिंहल द्वीप

नाम

प्राचीन काल से लेकर अब तक भारतवर्ष की तरह लंका के भी कई नाम मिलते हैं, प्राचीन भारतीय साहित्य में इसे 'लंका', 'ताम्रपर्णी', 'सिंहल द्वीप' आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है। लंका और ताम्रपर्णी सम्भवतः सिंहल द्वीप से पहले के नाम हैं। यूनानी और रोमन साहित्य में इसका नाम "तप्रोवेन" है, जो सम्भवतः 'ताम्रपर्णी' का अपभ्रंश है। अरबों ने इसका नाम 'सरन द्वीप' रखा, जो सिंहल द्वीप का अपभ्रंश जान पड़ता है। पुर्तगालियों ने इस देश का नाम 'ज़ीलम' रखा, जिसके आधार पर इसका पाश्चात्य नाम सीलोन पड़ा है।

भौगोलिक स्थिति

राजनैतिक दृष्टि से यद्यपि लंका एक स्वतंत्र देश है और भारतवर्ष से उसका कोई वैधानिक सम्बन्ध नहीं है। तथापि भौगोलिक दृष्टि से लंका को भारतवर्ष का ही एक अंग समझना चाहिये। भूतत्व के विद्वानों का मत है कि किसी समय लंका भारतवर्ष से मिला हुआ देश रहा होगा। आज भी लंका और भारतवर्ष के बीच का समुद्र इतना कम गहरा है कि उसमें जहाज नहीं चल सकते। हमारे देश के दक्षिण में स्थित लंका हिन्द महासागर का पश्चिमी द्वार है। मनार की खाड़ी और पाक जलडमरूमध्य इसे भारत से अलग करते हैं। लंका की आकृति आम की तरह है, जिसका सिर उत्तर की ओर है। लंका का क्षेत्रफल २५३३२ वर्ग-मील है, जो मैसूर के क्षेत्रफल से कुछ कम है। लंका की प्राकृतिक

बनावट अत्यन्त सरल है। इसके मध्य और दक्षिण-पूर्व में नीचे पहाड़ों की श्रेणियाँ है जो १०,००० फीट से अधिक कहीं भी ऊँची नहीं है। इन पहाड़ों के इर्द-गिर्द पठार हैं, जो चारों ओर ढालू होते गये है। लंका की नदियाँ इन्हीं मध्य के पहाड़ों से निकलकर सब ओर बहती है। वहाँ की सबसे बड़ी नदी महाबली गंगा उत्तर पूर्व की दिशा में बहती है। काल गंगा और कलानी गंगा लंका की दूसरी बड़ी नदियाँ है। विषवत् रेखा के निकट होने के कारण लंका में वर्ष भर गर्मी पड़ती है और मानसूनी हवाओं से वर्षा होती रहती है। उत्तरी भाग को छोड़कर प्रायः सारे द्वीप की भूमि उपजाऊ है।

निवासी

सन् १९४९ ई० की जयेन-गणना के अनुसार लंका की जन-संख्या ५९,५१,००० थी। सन् १९३१ ई० की जन-गणना के अनुसार लंका में बसी हुई जातियों की संख्या इस प्रकार थी:—

सिंहली	३४,७३,०३०
तामिल	१४,१७,४७७
मूर	३,२५,९१३
बर्गर और यूरेशियन	३२,३१५
मलाया	१५,९७७

सिंहली जाति, जिसके नाम पर देश का नाम सिंहल द्वीप पड़ा है, लंका की प्रधान जाति है। सिंहलियों की संख्या लंका की कुल जन संख्या का ६६ प्रतिशत है। सिंहली उत्तर भारत के उन विजेताओं की सन्तान है जिन्होंने ईसा के कई सौ वर्ष पूर्व लंका के आदि निवासियों को हरा कर देश में अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। सिंहली स्वयं अपने को उत्तर भारत के आर्यों की सन्तान बतलाते हैं। लंका की दूसरी प्रमुख जाति दक्षिण

भारत के तामिल लोगों की है। लंका के तामिल दो भागों में बंटे हुये हैं :— (१) सिंहली तामिल और, (२) भारतीय तामिल। सिंहली तामिल वे तामिल हैं जिनके पूर्वज सदियों पूर्व लंका में जाकर बस गये और उसको अपना घर बना लिया। भारतीय तामिलों की अपेक्षा सिंहली तामिली अधिक शिक्षित और बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियों पर हैं। भारतीय तामिल अधिकांश मजदूर और नौकरी पेशे वाले लोग है, जो लंका में जीविका के लिये गये हैं। लंका के मूर मुसलमान हैं। मूर अरबों की सन्तान है और सदियों से लंका में बस गये हैं। लंका के मूरों का भारतीय मुसलमानों के साथ बहुत दिनों तक सम्बन्ध रहा। अधिकांश मूर किसानी और तिजारत करते हैं। बर्गर, डच और सिंहलियों की सन्तान है, जिनका लंका में वही स्थान है जो हमारे देश में ऐंग्लो इंडियन लोगों का। लंका के मलाया जाति के पूर्वज ट्रावनकोर, कोचीन और मलावार से ब्रिटिश और डच सेनाओं के साथ लंका में आये थे। अधिकांश मलाये लोग हिन्दू हैं। सन् १६३१ की जनगणना के अनुसार लंका में विभिन्न मतावलम्बियों की संख्या इस प्रकार थी :—

बौद्ध	३२,६७,५००
हिन्दू	११,५८,५००
ईसाई	५,२३,१००
मुसलमान	३,५६,६००

सिंहली अधिकांश बौद्ध है। बहुत बड़ी संख्या में सिहली ईसाई भी हो गये हैं। लंका के भारतीय अधिकांश हिन्दू हैं।

संक्षिप्त-इतिहास

आर्य-विजय से पहले लंका में कौन से लोग रहते थे इसका हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। भारतीय आर्यों का

पहला झुन्ड लंका में ईसा से ५०० वर्ष पूर्व पहुँचा और उसने लंका में अपना आधिपत्य स्थापित किया। ३०७ ईसा के पूर्व जिस समय महेन्द्र और संघमित्रा ने लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार आरम्भ किया, उससे बहुत पहले भारतीय शासकों ने अनिरुद्धपुरा में अपने पैर जमा लिये थे। लंका के प्रथम आर्य-शासक का नाम विजय था, जिसका सम्बन्ध बंग (बंगाल) के किसी उच्च कुल से बतलाया जाता है। समय-समय पर उत्तरी भारत से आर्यों के दूसरे झुन्ड भी लंका में पहुँचे और वहाँ बस गये। विजय के समय से १६ वीं शताब्दी तक इन सिंहली राजाओं ने लंका पर राज्य किया, हाँ बीच-बीच में दक्षिण भारत के तामिल राजाओं ने भी लंका पर राज्य किया। दक्षिण भारत और सिंहली राजाओं की प्रतिस्पर्धा लंका के मध्यकालीन इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। ईसा के पूर्व ५०० वर्ष से लेकर १६ वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारत के चोल और पांढ्य और लंका के सिंहली शासको के बीच कई बार युद्ध हुआ। सिंहली शासकों ने दक्षिण भारत के हमलों को कई बार विफल कर दिया, परन्तु सन् १०१४ में चोल राजा राजेन्द्र ने सिंहली सेनाओं को पराजित कर लंका को अपने आधिपत्य में कर लिया और सन् १०४४ के बीच लंका चोल साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। १३ वीं सदी में तामिलों ने उत्तर लंका में एक स्वतंत्र राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी जफना थी। यह तामिल राज्य बहुत दिनों तक विजय नगर के राजाओं को कर देता रहा।

पाश्चात्य जातियों का आगमन

आपसी मतभेद के कारण १६ वीं सदी के अन्त में सिंहली शासन क्षीण होने लगा। इस आन्तरिक मतभेद से लाभ उठाकर सर्व प्रथम पुर्तगालियों ने लंका पर अपना आधिपत्य जमाना चाहा और थोड़े समय में उन्होंने लंका के समुद्री किनारों पर अपना

अधिकार भी स्थापित कर लिया। परन्तु पुर्तगालियों का पैर अधिक दिन तक लंका में जम न सका। भारत में उनकी बिगड़ती हुई स्थिति का प्रभाव लंका में भी पड़ा और सन् १६५८ में वे सदा के लिये लंका से विदा हो गये। पुर्तगाल वालों के बाद लंका में हालैंड के लोगों का प्रभाव बढ़ा। डच छावनियाँ द्वीप के कई भागों में कायम हुईं, किन्तु उनको भी इस द्वीप में अधिक दिनों तक रहना बदा न था। प्रायः ६० वर्ष तक डच और अंग्रेजों के बीच प्रतिद्वन्द्विता चलती रही। अन्त में सन् १८६५ ई० में डच आधिपत्य लंका से जाता रहा और १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में लंका पर अंग्रेजों का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। सन् १८०२ तक लंका का प्रबन्ध मद्रास के गवर्नर के अधीन रहा। उसी वर्ष लंका एक पृथक् उपनिवेश घोषित किया गया। मध्य लंका का कैन्डी राज अभी भी अंग्रेजों के आधिपत्य में न आया था। सन् १६१५ में कैन्डी भी गन्दी कूटनीति के बल पर अंग्रेजी शासन में मिला लिया गया।

शासन और उसकी वैधानिक प्रगति

पाश्चात्य आधिपत्य से पहले लंका की शासन-व्यवस्था प्राचीन भारतवर्ष की शासन व्यवस्था के समान थी। ग्राम्य संस्था उस शासन की रीढ़ थी। हर एक ग्राम में एक "गण" सभा थी, जिसके हाथ में गाँव का शासन था। "गण" सभा के ऊपर "रत" सभा होती थी, जिसमें कई गाँव के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। "रत" सभा के ऊपर सम्राट और उसके मंत्री होते थे। प्राचीन समय के भारतीय सम्राटों की तरह सिंहली सम्राट भी निरंकुश शासक था पर वह परम्परा और लोकमत का अनादर नहीं कर सकता था। जिस समय लंका में पाश्चात्य आधिपत्य आरम्भ हुआ उस समय से प्राचीन शासन व्यवस्था का लोप होने लगा और धीरे-धीरे देश में पाश्चात्य शासन-प्रणाली का श्री गणेश हुआ।

सन् १८०२ से लेकर सन् १६३१ तक लंका के विधान में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। शासन के हर एक अंग पर गवर्नर का एकाधिकार था और वह अपने गोरे सलाहकारों की सहायता से शासन चलाता था। प्रथम यूरोपीय युद्ध के बाद स्थिति बदली और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर लंका में भी पहुँची। भारत में साइमन कमीशन के साथ सन् १६२७ में लंका में भी वैधानिक सुधार के लिये एक कमीशन बिठाया गया। इस कमीशन ने बालिग़ मताधिकार की सिफारिश की और शासन में सीमित परिवर्तन की भी योजना बनाई। कमीशन के सुझाओं के अनुसार जो नया विधान बना वह सन् १६३१ ई० में लागू हुआ। इस विधान के अनुसार लंका की व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों की संख्या ५८ रखी गयी, जिसमें से जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या ५० और गवर्नर द्वारा नामज़द सदस्यों की संख्या ८ थी। मंत्रिमण्डल में सभी जातियों के प्रतिनिधि रखने का आयोजन था। मंत्रिमंडल का सामूहिक उत्तरदायित्व नहीं था। हर मंत्री अपने विभाग का प्रधान था। अपने विशेषाधिकार से गवर्नर मंत्रिमण्डल के निर्णय को रद् भी कर सकता था।

नये विधान के लागू होते ही सिंहली राष्ट्रवादियों ने औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग की। सन् १६३६ ई० के चुनाव में जब सीलोन राष्ट्रीय कांग्रेस को व्यवस्थापिका सभा में बहुमत प्राप्त हुआ तो ब्रिटिश सरकार ने उपरोक्त माँग की मौखिक स्वीकृति दे दी। अल्पसंख्यकों को सन्तुष्ट रखने के लिये सिंहली नेताओं ने एक भारतीय तामिल को भी मंत्रिमंडल में स्थान दिया। फिर भी अल्पसंख्यकों का प्रश्न सुलझ न पाया। इसी बीच योरप में द्वितीय महासमर छिड़ गया और लंका की वैधानिक प्रगति अनिवार्यतः रुक गई। सन् १६४४ में ब्रिटिश सरकार ने लंका के वैधानिक और विशेषतः अल्पसंख्यक अथवा भारतीय प्रश्न के

हल के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की। इधर सिंहली कांग्रेस ने औपनिवेशिक माँग को छोड़कर पूर्ण स्वतंत्रता की माँग का नारा लगाना आरम्भ किया। सन् १९४४ ई० में साल्बरी कमीशन लंका आया और सन १९४५ में लौट गया। साल्बरी कमीशन ने लंका को जो विधान दिया उसके अनुसार लंका की स्टेट कौंसिल का नाम पार्लियामेण्ट पड़ा, मंत्रिमंडल को कैबिनेट के अधिकार मिले। ३० सदस्यों का एक अपर चैम्बर भी बनाया गया, जिसके आधे सदस्य पार्लियमेण्ट द्वारा निर्वाचित और आधे गवर्नर द्वारा नामजद करने की योजना थी। सुरक्षा और वैदेशिक विभाग पर मंत्रियों का अधिकार न था। ये विषय गवर्नर के नियंत्रण में रखे गये। यह विधान केवल थोड़े समय के लिये कार्यान्वित हुआ, क्योंकि फरवरी सन् १९४८ में स्वतंत्र लंका का विधान लागू हुआ। स्वतंत्र लंका का विधान औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर बना है। इसके सर्व प्रथम गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति सर हेनरी माकमैसन मूर हैं जो नये विधान के लागू होने से पहले लंका के गवर्नर थे। देश का आन्तरिक शासन पूर्ण रूप से मंत्रिमंडल के नियंत्रण में होगा, परन्तु वैदेशिक सम्बन्धों और नीति में लंका ब्रिटेन का ही अंचल पकड़ेगा।

कृषि और व्यवसाय

किसी समय लंका अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपनी उपज से करता था, प्राचीन लंका धन-धान्य से पूर्ण था। परन्तु गृह-युद्धों और विदेशी हमलों ने लंका को उजाड़ डाला। विदेशी हमलों, गृह-युद्धो और अकालों का ही यह फल है कि आज द्वीप का दो तिहाई भाग बंजर है और लंका की अन्न-सम्बन्धी आधी आवश्यकतायें विदेशी आयात से पूरी होती हैं। विगत कई वर्षों से सिंहली सरकार कृषि की उन्नति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रही है। धान लंका की प्रधान उपज है। लगभग १० लाख एकड़

भूमि में धान की खेती होती है। नारियल, रबर, चाय और कोको लंका की दूसरी मुख्य उपज हैं। देश का ६० प्रतिशत निर्यात नारियल, रबर और चाय का होता है। चाय की उपज में भारतवर्ष के बाद संसार में लंका का ही नंबर आता है। अधिकांश चाय के बगीचे अंग्रेजों के हाथ में है। रबर की उपज में समस्त संसार में लंका का स्थान तीसरा है। मलाया और डच ईस्ट इंडीज़ क्रमश. प्रथम और द्वितीय है। ५४ प्रतिशत रबर की खेती भी अंग्रेजों के हाथ में है। उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त लंका के पहाड़ी क्षेत्रों में गर्म मसाले, जायफल और दालचीनी की भी उपज होती है।

यद्यपि लंका स्वतंत्र देश है, पर आज भी उसका प्रायः पूरा व्यापार विदेशियों के हाथ में है। पिछले तीन सौ वर्षों से लंका का इतिहास विदेशियों द्वारा शोषण का इतिहास रहा है। व्यवसायिक क्षेत्र में श्रम, पूँजी और संचालन सभी विदेशी है। वर्तमान संसार के स्वतंत्र राष्ट्रों में प्राय· लंका ही एक ऐसा देश है जिसके व्यवसाय पर देशवासियों का अभी तक प्रायः कोई नियंत्रण नहीं है। विदेशियों ने द्वीप के व्यापार और व्यवसाय को इस तरह समेटकर अपने हाथ में रख लिया है कि सिहलियों को उसमें घुसने का कोई मार्ग ही नहीं बचा है। विदेशियों की सारी योजनायें शोषण के लिये बनाई गई हैं। अतएव इसमें आश्चर्य ही क्या है कि द्वीप के व्यवसायिक साधनों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। आज दिन ग्रैफाइट और नारियल का तेल यही दो लंका के प्रमुख व्यवसायिक निर्यात हैं। अभी थोड़े दिन हुए सिंहली सरकार ने जल-विद्युत की एक योजना तैयार कराया है। युद्ध के बाद कुछ दूसरे व्यवसाय भी आरम्भ किये गये हैं।

शिक्षा और सामाजिक जीवन

बौद्ध धर्म की परम्परा के अनुकूल पाश्चात्य आधिपत्य से पहले लंका में शिक्षा का काम बौद्ध भिक्षुकों के हाथ में था।

प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक इन्हीं भिक्षुकों का नियंत्रण था और ये भिक्षुक सिंहली बच्चों को नि:शुल्क शिक्षा देते थे। सिंहली राजाओं की शक्ति जब क्षीण हो गई तो इस शिक्षा प्रणाली का भी ह्रास आरम्भ हो गया और पाश्चात्य आधिपत्य के साथ लंका में पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली का श्रीगणेश हुआ। पाश्चात्य शक्तियों ने लंका में ईसाई धर्म के प्रचार का अच्छा अवसर देखा और उनमें से हर एक ने शिक्षा-प्रचार की आड़ में मिशन स्कूलों के द्वारा सिंहली बच्चों को "धार्मिक शिक्षा" (ईसाई बनने की शिक्षा) देना आरम्भ किया। पुर्तगालियों ने रोमन कैथलिक मिशन और डचों ने प्रोटेस्टेन्ट मिशन के संचालन में स्कूल खोलवाये। ब्रिटिश शासकों ने भी ईसाई धर्म की शिक्षा पर ज़ोर दिया। ईसाई विद्यालयों को इस प्रकार प्रोत्साहन देने का फल यह हुआ कि १९वीं सदी के अन्त तक देश के कोने-कोने मे मिशनरी स्कूलों का जाल बिछ गया। मिशनरियों का प्रचार बढ़ते देख लंका के बौद्ध और हिन्दू सशंकित हो उठे, उन्होंने अलग अपने स्कूल खोले और ब्रिटिश शासकों को बाध्य किया कि ईसाई स्कूलों की तरह बौद्ध और हिन्दू स्कूलों को भी सरकारी सहायता दी जाय। मिशनरी स्कूलों के द्वारा लंका में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार बड़े ज़ोरों से आरम्भ हुआ। धनी और मध्यम वर्ग के लोगों ने सरकारी नौकरियों के लालच से अपने बच्चों को अंग्रेज़ी शिक्षा देना उपयोगी समझा। सामाजिक दृष्टिकोण से अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का लंका में वही दूषित परिणाम हुआ जो भारतवर्ष में। अंग्रेज़ी शिक्षा पाने वाले बाबुओं का एक अलग वर्ग बन गया जिसका शनैः शनैः जनता से सम्पर्क टूटता गया और देश में शिक्षित और अशिक्षित वर्गों के बीच एक गहरी खाई बन गई। लंका में अंग्रेज़ी और अंग्रेजियत का जितना प्रभाव पड़ा है, प्रायः एशिया के किसी

दूसरे देश में उसका इतना प्रभाव नहीं है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि अंग्रेजी शिक्षा से लंका में शिक्षा-प्रसार को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला है। लंका में शिक्षितों का प्रतिशत भारत के शिक्षितों के प्रतिशत से ५ गुना अधिक है। ६० प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक लंका निवासी शिक्षित है। स्त्रियों में भी शिक्षा का अच्छा प्रचार है। उच्च और मध्यम वर्ग की प्रायः सभी स्त्रियाँ शिक्षित होती हैं। सन् १९४४-४५ में लंका की सरकार ने शिक्षा के मद में ४ करोड़ ५७ लाख रुपये खर्च किये थे। अभी कुछ दिन पहले लंका की पार्लियामेन्ट ने देश में अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा के लिये प्रस्ताव स्वीकार किया था, परन्तु अभी तक यह प्रस्ताव आर्थिक कठिनाइयों के कारण पूर्णयता कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका है। लंका में उच्च शिक्षा के लिये प्रमुख नगरों में कालेज और कोलम्बो में एक विश्वविद्यालय है। कोलम्बो विश्वविद्यालय में विज्ञान, गणित, इतिहास, भाषा और चिकित्सा की डिग्रियाँ दी जाती हैं। सिंहलियों के अंग्रेजी प्रेम के कारण सिंहली साहित्य आज भी अकिंचन है। विदेशी आधिपत्य से पहले का सिंहली साहित्य नगण्य है, क्योंकि "महावंश" और लंका की दूसरी प्राचीन पुस्तकें पाली में लिखी गयी हैं।

सामाजिक जीवन

सदियों तक दक्षिण भारत के सम्पर्क में रहने के कारण लंका पर तामिल संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा है। तामिल और सिंहलियों के रहन-सहन और उनके पहनावे में बहुत कुछ समानता आ गयी है। उनकी आकृति भी एक दूसरे से मिलती-जुलती है। दक्षिण भारत की तरह लंका में भी पर्दे की प्रथा नहीं है। केवल मूर स्त्रियाँ बुर्के में चलती हैं। परन्तु इन समानताओं के होते हुये भी सिंहलियों और तामिलों के बीच सामाजिक बन्धन बहुत कम हैं। रोटी बेटी का सम्बन्ध भी अपनी ही जाति तक सीमित है।

हाँ, नगरों में अन्तर्जातीय (सिहली-तामिल) विवाह-बन्धन कभी-कभी हो जाता है। लंका के नगरों में पाश्चात्य फैशन और रहन-सहन का बोल-बाला है। गाँवों में पुराने रस्म रिवाजों की पाबन्दी अभी भी है। परन्तु वहाँ भी पुरानी प्रथायें और परम्परा टूट रही है। लंका के किसान और मजदूरों की स्थिति हमारे देश के किसान और मजदूरों की स्थिति से अच्छी नहीं है। नगरों का आमोद-प्रमोद और गाँवों की भयंकर ग़रीबी लंका और भारतवर्ष दोनों देशों में एकसा है। इधर कई वर्षों से सिहली सरकार खेतिहर मजदूरों को उत्तर-पूर्व के शुष्क भाग में बसाने का प्रयत्न कर रही है।

लंका की 'भारतीय' समस्या

विदेशों में प्रायः लोग इस बात पर आश्चर्य करते है कि लंका में 'भारतीय' समस्या कैसी ? सिहली तो स्वयं भारतीयों की सन्तान है। उनका धर्म, उनकी भाषा * उनका रहन सहन अथवा उनकी पूरी संस्कृति भारत की देन है। भारतीयों और सिंहलियों में मतभेद कैसा ? परन्तु, इस सांस्कृतिक और धार्मिक एकता के होते हुये भी यह स्पष्ट है कि लंका में भारतीयों की समस्या एक

* सिंहली भाषा संस्कृत शब्दों से भरी पड़ी है। एक विशेषज्ञ का मत है कि उत्तर भारत के लोग कुछ ही महीनों में इस भाषा को सीख सकते हैं। संस्कृत के कुछ शब्द तो अपने शुद्ध रूप में प्रयोग किये जाते हैं। बहुत से शब्दों में नियमानुसार परिवर्तन कर दिये गये हैं। सिंहली साहित्य की भाषा पाली है, उसमें भी संस्कृत के शब्द इतने अधिक हैं कि बौद्ध साहित्य के विद्वानों को संस्कृत समझने में विशेष अड़चन नहीं होती। व्याकरण, आयुर्वेद और ज्योतिष के सैकड़ों शब्द भी उसी रूप में सिंहली में प्रयुक्त होते हैं। सिंहली भाषा पर संस्कृत का कितना प्रभाव है, इसका अनुमान नीचे दिये गये शब्दों से लगाया जा सकता है।

विकट समस्या है और पिछले १५ वर्षों से दोनों देशों के बीच मतभेद और मनोमालिन्य का एक कारण बन गयी है।

लंका में भारतीयों की जनसंख्या लंका की पूरी जनसंख्या का छठवां भाग है। इसमें से अधिकांश दक्षिण भारत के तामिल हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, भारतीय जन संख्या का एक भाग स्थायी रूप से लंका में बस चुका है और लंका को अपनी मातृ-भूमि समझता है। भारतीय जनसंख्या के इस भाग की सिंहली

संस्कृतः—	सिंहली:—
मध्य रात्रि	मध्य रात्रिव
ग्रीष्म काल	ग्रीष्म कालव
देवस्थान	देवस्थानय
पाठशाला	पाठशालाव
नागरिकशाला	नागरिकशालाव
शिष्य	शिष्यय
सर्पदष्ट	सर्पदष्टय
अध्यापन	अध्यापन
क्रिया	क्रिया
शरीर स्थिति	शरीर स्थिति
आरोग्य	आरोग्य
भार्या	माया
स्त्रा	स्त्री
मुहूर्त	मोहोत

पाश्चात्य शब्दों के लिये सिंहली में जो नये शब्द बनाये गये हैं वे भी सस्कृत के ही शब्द हैं। ऐसे कुछ शब्द हैं.—

शल्य वैद्य	सर्जन
तूय मांद्य	पिआनो

तामिल कहा जाता है। सिंहली तामिल सिंहलियो में बहुत कुछ मिल घुल गये हैं और उन्होंने सिंहलियों में सामाजिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया है। किन्तु भारतीय जनसंख्या का दूसरा बड़ा भाग, (भारतीय तामिल वर्ग) आज भी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से अपना प्रथम अस्तित्व कायम किये हुये हैं। लंका के इन भारतीय तामिलो की पृथकता और विभिन्नता ही उसकी भारतीय समस्या की जड़ है। आर्थिक दृष्टिकोण से लंका के भारतीय दो भागो में बांटे जा सकते है, व्यवसायी वर्ग और श्रमिक वर्ग। द्वीप का अधिकांश आन्तरिक व्यवसाय भारतीय तामिलो के हाथ में है। भारतीय मजदूर अधिकांश चाय और रबर के बगीचो में काम करते हैं। लंका के भारतीय यद्यपि वर्षो से द्वीप में रहते हैं और प्रायः वही पर विवाह आदि सम्बन्ध भी जोड़ लेते है, तथापि लंका को वे अपनी मातृ भूमि नहीं समझते। वे स्थायी रूप से भारत की ओर ही देखते है। यही कारण है कि सिंहली अपने देश में भारतीय पूजी और श्रम से सशंकित रहते है। उनको सदैव भारतीयो के प्रभुत्व का डर बना रहता है। अतः भारतीयो और सिंहलियो के बीच प्रतिस्पर्धा का उत्पन्न

रसायन कारया	केमिस्ट
यंत्रकरया	इंजीनियर
आभरण सादना	सोनार
रथचक्र सादना	साइकिल बनाने वाला
लिपि करुआ	क्लार्क
यंत्रय	इंजन
धूम्रनाव	स्टीमर
दूर-शब्द यंत्रय	टेली फोन
कर्मांतशालाव	फेक्ट्री

होना आश्चर्य की बात नहीं है। सिंहलियों को यह शिकायत रहती है कि यद्यपि लंका का व्यवसाय अधिकांश भारतीयों के हाथ में है और अधिकांश भारतीय लंका में ही जीवन व्यतीत करते हैं तथापि जीवन पर्यन्त वे सिंहली नहीं बन पाते। वे अपने को सिंहलियों से अलग समझते है। भारतीय प्रभुत्व के डर से सिंहली जनमत भारतीयों को, विशेष कर भारतीय मजदूरों को, नागरिक अधिकार देने के विरुद्ध रहा है।

नागरिकता के प्रश्न को लेकर भारतीयों में बड़ा क्षोभ है। उनकी अन्य माँगो में से एक मांग यह भी है कि द्वीप में रहनेवाले हर भारतीय को नागरिक अधिकार दिये जायँ। लंका के भारतीयों की यह शिकायत रही है कि सिंहली सरकार ने भारतीयों के पूर्ण नागरिक अधिकारो पर प्रतिबन्ध लगा रखा है। सन् १९२३ के "ग्राम पंचायत" आर्डिनेन्स में चाय बगीचों में काम करने वाले भारतीय मजदूरों को ग्राम पंचायतों में भाग लेने से वंचित रखा गया। इस सम्बन्ध में सिंहली राजनीतिज्ञों का कहना था कि चाय के बागों में काम करने वाले भारतीय मजदूरों का लंका के ग्राम्य जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी सम्बन्ध में भारतीयों की शिकायत यह है कि भूमि-विकास-नियम (Land Development Ordinance) के अनुसार उनको जमीन खरीदने का अधिकार नहीं रह गया है।

सन् १९२७ में जब डानमर कमीशन के प्रस्तावों के आधार पर लंका का विधान बदला और बालिग मताधिकार दिया गया तो सिंहली नेताओं ने भारतीय मजदूरों को मताधिकार देने का विरोध किया। उनका कहना था कि ये मजदूर अस्थायी रूप से जीविकोपार्जन के लिये लंका में आते हैं और थोड़े दिन के बाद भारत लौट जाते हैं। अतः उन्हें मताधिकार नहीं मिलना चाहिये। इस प्रश्न को लेकर भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला और उन्होंने

भारतीय मजदूरों के पक्ष का समर्थन किया। संघर्ष की आशंका बढ़ते देख अंग्रेजी सरकार ने एक बीच का मार्ग ढूँढ़ निकला। उन्होंने यह निश्चित किया कि मताधिकार केवल उन्हीं मजदूरों को दिया जाय जो स्थायी रूप से लंका में रहते हों और ऐसे मजदूरों की रजिस्ट्री हो जाय। यह नीति न तो सिंहलियों को पसन्द आई और न भारतीयों को। धीरे-धीरे पारस्परिक मनोमालिन्य बढ़ता गया और एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावना जागृत होने लगी। इसी बीच लंका में बेकारी की समस्या बढ़ी और सिंहली मजदूरों को काम दिलाने का प्रश्न सामने आया। सिंहली मजदूरों की बेकारी को दूर करने के लिये लंका में भारतीय मजदूरों को काम से हटाने का एक आन्दोलन फैल गया। लंका के भारतीय मजदूरों के प्रश्न को लेकर भारत में भी लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और भारतीय नेताओं ने भारत सरकार पर दवाव डाला कि लंका में भारतीय मजदूरों का भेजना बन्द कर दिया जाय।

भारत सरकार ने जनमत का आदर कर भारतीय मजदूरों के लंका जाने पर प्रतिवन्ध लगा दिया। फिर भी समस्या सुलझ न सकी। भारतवर्ष और लंका के बीच समझौता कराने के विचार से सन् १९४० में नई दिल्ली में एक कान्फ्रेन्स बुलाई गयी। यद्यपि कान्फ्रेन्स अपने मन्तव्यों में सफल न हो सकी, तथापि दोनों पक्षों के दृष्टिकोण का अन्दाजा लग गया।

डोमीसाइल के प्रश्न पर सिंहली शिष्ट मंडल ने यह अनुमति प्रकट की कि लंका के भारतीय तीसरी पीढ़ी में समस्त नागरिक अधिकारों के योग्य समझे जायेंगे। उनके और सिंहलियों के बीच किसी प्रकार का भेद न समझा जायगा। डोमीसाइल—प्राप्त भारतीयों को मत देने का अधिकार भी मिलेगा, किन्तु नौकरी आदि उन्हें उन्हीं शर्तों पर मिलेगी जिनका लगाना सिंहली

सरकार आवश्यक समझेगी। कान्फ्रेन्स के भारतीय प्रतिनिधियों की राय थी कि लंका में ५ वर्ष तक रहने के बाद ऐसे हर भारतीय को पूरे नागरिक अधिकार दे दिये जायँ जो इस बात का प्रमाण दे सके कि उनका लंका में स्थायी स्वार्थ है। स्थायी स्वार्थ (Permanent Interest) और ५ साल रहने का प्रमाण जो न दे सके उन्हें भी इसी शर्त के पूरी होने के बाद लंका का नागरिक समझा जाय और तत्सम्बन्धी पूरे अधिकार दिये जायँ।

सन् १९४० की कान्फ्रेन्स के बाद समझौते का एक बार फिर प्रयत्न किया गया और १९४१ में इस बार लंका में कान्फ्रेन्स बुलायी गयी। श्री गिरिजाशंकर वाजपेयी, श्री मिर्जा इस्माइल और वेंकटराय शास्त्री भारत सरकार की ओर से भेजे गये। लम्बे वाद-विवाद के बाद कान्फ्रेन्स इस निश्चय पर पहुँची कि लंका मे ५ वर्ष रहने के बाद जो भारतीय स्थायी निवास का प्रमाण पत्र प्राप्त कर ले उसे लंका का नागरिक समझा जाय। दोनों देशों में इस प्रस्ताव का विरोध हुआ। इसी बीच एशिया में युद्ध छिड़ा और अन्य प्रश्नों के साथ लंका का भारतीय प्रश्न भी स्थगित कर दिया गया।

युद्ध के बाद जब लंका के विधान के सम्बन्ध में चर्चा पुनः आरम्भ हुई तो भारतीयों ने अपना प्रश्न उठाया। उन्होंने अपनी पुरानी माँगों को फिर पेश किया। नागरिक अधिकार के साथ उनकी एक प्रमुख माँग यह थी कि लंका की व्यवस्थापिका सभा और मंत्रि-मण्डल में भारतीयों का प्रतिनिधित्व सिंहलियों के बराबर हो। सिंहली जन-मत इन माँगों को कब स्वीकार कर सकता था? विगत तीन वर्षों से लंका के भारतीय प्रश्न को सुलझाने का विशेष प्रयत्न किया गया है। स्वयं पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया किन्तु अभी तक भारतीय दृष्टिकोण से इसका कोई सन्तोषजनक हल नहीं निकल सका है। अगस्त सन्

१६४८ में लंका की व्यवस्थापिका सभा ने मंत्रिमंडल द्वारा प्रस्तावित 'लंका नागरिक बिल' को स्वीकार कर लिया। इस बिल में भारतीयों द्वारा नागरिक अधिकार प्राप्त करने पर कई प्रकार के प्रतिबन्द लगा दिये गये हैं। इसके अनुसार केवल वे ही भारतीय लंका के नागरिक बन सकेंगे जो जनवरी सन् १६४६ से विवाहित अवस्था में कम से कम ७ वर्ष और अविवाहित अवस्था में १० वर्ष लंका में रहने का प्रमाण दे सकें। इस प्रतिबन्ध के साथ-साथ नागरिक अधिकार प्राप्त करने के लिये विवाह और सामाजिक रीति-रिवाज में सिंहली नियमों का पालन भी आवश्यक होगा। किन्तु इस सम्बन्ध में सबसे कठिन प्रतिबन्द आर्थिक स्थिति का है। जिन भारतीयों के पास जीविका का पर्याप्त साधन न होगा वे नागरिक अधिकार से सर्वथा वंचित रहेंगे। लंका में जन्म के नाते किसी भी भारतीय को नागरिक अधिकार न मिलेगा। नागरिक अधिकार प्राप्त करने के लिये भारतीयों को नियमानुसार प्रार्थना-पत्र देना होगा। इस नागरिक बिल का सबसे दूषित प्रभाव लंका के भारतीय मजदूरों पर होगा। नागरिक अधिकार की बात तो दूर, इस बिल के अनुसार द्वीप में जीविका के लिए उनका रहना भी सम्भव न होगा। भारतीयों के नागरिक अधिकार पर इन कठोर प्रतिवादों का विरोध लंका के प्रायः सभी विरोधी दलों ने किया। किन्तु भारतीय प्रश्न पर सिंहली सरकार के रुख में हठधर्मी सी आ गई है। लंका के भारतीय मजदूरों के सम्बन्ध में उसका तर्क कुछ इस प्रकार का मालूम पड़ता है—जब तक लंका को भारतीय मजदूरों की आवश्यकता थी, तब तक द्वीप में उनका रहना ठीक था। अब लंका को उनकी आवश्यकता नहीं रही। सिंहली मजदूरों को ही काम दिलाना कठिन हो रहा है। अतएव भारतीय मजदूरों को स्वदेश भेजने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। यह सम्भव है कि लंका को अब भारतीय मजदूरों की

आवश्यकता न हो, किन्तु प्रश्न तो यह है कि वे भारतीय मज़दूर, जिनके बाप-दादा लंका में अपना जीवन बिताये, उनको देश से निकालना कहाँ तक नैतिक है ? अभी तो केवल मज़दूरों का प्रश्न है। भविष्य में सिंहली सरकार यह भी कह सकती है कि 'अब लंका को भारतीय व्यवसायियों की आवश्यकता नहीं है, वे यहाँ से निकल जायँ।'

सिंहली सरकार के इस रवैये से भारतवर्ष में स्वाभाविक क्षोभ और दुःख है। भारतवर्ष और लंका का सम्बन्ध चोलीदामन का सम्बन्ध है। हमें एक साथ रहना और चलना है। स्वतंत्र लंका को यदि अपने पैरों पर खड़ा होना है तो वह अपने एकमात्र पड़ोसी भारतवर्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता। हमें एक दूसरे की सद्-भावना और सहायता की आवश्यकता है। हमारा विश्वास है कि मज़दूरों का प्रश्न हल हो जाने पर लंका के शेष भारतीयों के साथ अच्छा व्योहार होगा। यदि भारतीय मज़दूरों का लंका में रहना अहितकर है, तो उन्हें वापस बुला लेने में भारत को आपत्ति नहीं होगी। हम अपने हित के साथ अपने पड़ोसियों का भी हित चाहते हैं। हम पड़ोसी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। लंका भी इसी सद्भावना को लेकर आगे बढ़ेगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

बर्मा

भौगोलिक स्थिति

हमारे देश के दक्षिण-पूर्व में स्थित बर्मा सन् १९३७ से पहले ब्रिटिश भारत का एक प्रान्त था। बर्मा और भारतवर्ष की सीमाएं एक दूसरे से मिली हुई हैं, पर एक दूसरे से निकट होते हुए भी इनके बीच का स्थल-मार्ग पर्वत श्रेणियों और घने जंगलों से अवरुद्ध है। आज भी बर्मा से हमारा सम्बन्ध केवल जल-मार्ग से है। बर्मा-भारतवर्ष के स्थल-मार्ग को रेलवे द्वारा मिलाने के लिये अंग्रेजों ने कई बार योजनायें तैयार कीं, परन्तु कुछ कारणों-वश ये योजनाएं कार्यान्वित न हो सकीं। चीन और भारतवर्ष से सामीप्य के कारण बर्मा की सभ्यता और संस्कृति पर इन दोनों देशों का गहरा प्रभाव पड़ा है, किन्तु अगम्य पर्वत श्रेणियों से घिरे रहने के कारण बर्मी सभ्यता और रहन-सहन में एक अपनापन है, जिसने बर्मा को अपने इन शक्तिशाली पड़ोसी राष्ट्रों से अलग रखा है। बर्मा की भौगोलिक स्थिति के कारण इस देश में विदेशियों का समागम भी बहुत कम रहा है।

प्रकृति ने बर्मा को हरी-भरी पर्वत श्रेणियों, घने जंगलों और घाटियों का सुरम्य देश बनाया है। बर्मा की पूर्वी और पश्चिमी सीमा पर समानान्तर पर्वत श्रेणियाँ उत्तर से दक्षिण तक फैली हुई हैं। इन पर्वत श्रेणियों के बीच में नदियों की तंग घाटियाँ हैं जो मुहानों के समीप विस्तृत डेल्टा का रूप धारण कर लेती हैं। ईरावदी बर्मा की सबसे बड़ी नदी है। इसमें सैकड़ों मील तक जहाज़ आते जाते हैं। बर्मा की जन-संख्या का एक बहुत बड़ा भाग इसी नदी के तट और डेल्टा में बसा है। प्राचीन और

आधुनिक बड़े-बड़े नगर भी ईरावदी के तट पर पाये जाते हैं। ईरावदी की विशेषता का एक मुख्य कारण यह है कि प्राचीन समय से ईरावदी यातायात का एक बहुत बड़ा साधन रही है। सितांग और सालविन नदियाँ यातायात के दृष्टिकोण से उतनी उपयोगी नहीं हैं। बर्मा का जलवायु उत्तरी भारत के जलवायु से मिलता-जुलता है। ऋतुएँ भी उत्तरी भारत के समान होती हैं। समुद्र के किनारों पर २०० से २५० इंच तक पानी बरसता है। दक्षिण के डेल्टा प्रदेश में १०० इंच और मध्य बर्मा में ३० इंच बारिश होती है। मध्य बर्मा शुष्क है। यहाँ जाड़े में कड़ा जाड़ा और गर्मी में कड़ी गर्मी पड़ती है। समुद्र के किनारों का तापमान सामान्य रहता है। शान स्टेटो और चीन तथा काचीन पर्वत श्रेणियों का जलवायु आर्द्र है। काचीन का उत्तरी भाग वर्ष के कई महीनों तक बर्फ से ढका रहता है।

निवासी

बर्मा का क्षेत्रफल २ लाख ६० हज़ार वर्गमील से कुछ अधिक है, जो मद्रास, बम्बई और सिन्ध के क्षेत्रफल के बराबर है। विस्तार को देखते हुए बर्मा की जनसंख्या बहुत कम है। सन् १९४१ की जनगणना के अनुसार बर्मा की जनसंख्या १ करोड़ ६८ लाख से कुछ अधिक थी। जनसंख्या की कमी का मुख्य कारण यह है कि बर्मा का अधिकांश भाग पहाड़ी है। भारतवर्ष की तरह बर्मा भी विभिन्न जातियों और जत्थों का एक अजायब घर है।

जातियों के आधार पर बर्मा की जनसंख्या इस प्रकार बाँटी जा सकती है—

बर्मन	१ करोड़ १० लाख
शान	१५ लाख

करेन	१५ लाख
मोन	४ लाख
काचीन	३ लाख
भारतीय	१० लाख (लगभग ४ लाख भारतीय जापानी, जापानी हमले के समय भारत चले आये थे ।)
चीन	३ लाख
चाइनीज़	३ लाख के लगभग
अन्य	६ लाख

जैसा ऊपर दिए हुए आँकड़े से ज्ञात है, बर्मा की जनसंख्या के दो तिहाई बर्मन जाति के लोग हैं । बर्मन जाति ही बर्मा की प्रधान जाति है और बर्मा के इतिहास में इसका प्रमुख स्थान रहा है । बर्मनों की आकृति मंगोलों से मिलती-जुलती है । अतः अनुमान किया जाता है कि बर्मन जाति के पूर्वज मंगोलिया से आये । शान जाति का आदि देश भी दक्षिण-पश्चिम चीन बतलाया जाता है । तेरहवीं सदी में चीन के मुसलमान सम्राट कबुलाईखाँ के आक्रमणों से ऊब कर शान जाति के लोग चीन छोड़ कर बर्मा और श्याम में जाकर बस गये । शान शासकों ने बर्मा पर दो सौ वर्ष तक राज्य किया । शान जाति के लोगों की आकृति बर्मनों से मिलती है । केवल ये लोग बर्मनों से अधिक गोरे और लम्बे होते हैं । इनकी रहन-सहन और भाषा में बर्मनों से कोई विशेष अन्तर नहीं है । बर्मा का तीसरा जत्था करेन जाति के लोगों का है । अधिकांश करेन करेनी प्रान्त और उसके निकटवर्ती भाग में रहते हैं । करेन बर्मा में कहाँ से आये, यह विषय आज भी विवादग्रस्त है । किन्तु अनुमान किया जाता है बर्मा में आने से पहले ये लोग भी चीन के किसी भाग में रहते रहे होंगे और परिस्थितियों से

विवश होकर बर्मा में आकर बस गये। बहुत दिन तक करेन और बर्मा की अन्य जातियों में संघर्ष चलता रहा और आज भी करेनों में पृथक्त्व की भावना बनी हुई है। बर्मी शासकों ने भी इन के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। बर्मियों के दुर्व्यवहार से ऊब कर बहुत से करेन अंग्रेजी आधिपत्य के समय ईसाई हो गये। तथापि आज भी अधिकांश करेन बौद्ध धर्म के ही अनुयायी हैं। चीन और काचीन जाति का आदि देश तिब्बत बतलाया जाता है। एक समय था, जब बर्मा की इन जातियों की रहन-सहन, भाषा और संस्कृति एक दूसरे से भिन्न थी। परन्तु एक दूसरे से सम्पर्क में आने के बाद इनमें से अधिकांश जत्थे आपस में मिल-घुल गये और उनकी रहन-सहन, भाषा और संस्कृति में बहुत कुछ एकता आ गयी। बौद्ध धर्म बर्मा की राष्ट्रीय एकता का सुदृढ़ आधार है। यों तो बर्मा में जितनी जातियाँ हैं प्रायः उतनी ही अलग-अलग बोलियाँ भी हैं। तथापि बर्मा के ६० प्रतिशत से अधिक लोग बर्मन भाषा बोलते अथवा समझते हैं। बर्मनों के अतिरिक्त बर्मा के लगभग तीन चौथाई लोग बर्मन भाषा का प्रयोग करते हैं। मरगुई द्वीप समूह में रहने वाले आदि वासियों की रहन-सहन और भाषा बिलकुल भिन्न है। बर्मा में रहने वाले एशियाई लोगों में भारतीय और चीनी प्रधान हैं। यहाँ के भारतीय और चीनी अधिकांश व्यवसायी और मजदूर हैं।

संक्षिप्त इतिहास

बर्मा का प्राचीन इतिहास जातीय युद्धों और संघर्षों का इतिहास है, जिसका कोई क्रम नहीं मिलता। तिब्बत और चीन से समय समय पर विभिन्न जातियाँ बर्मा में आयीं और यहाँ बस गयीं।

बर्मा का जातीय सम्बन्ध तिब्बत और चीन से होते हुये भी इसका सांस्कृतिक सम्पर्क चीन और तिब्बत की अपेक्षा भारतवर्ष के

साथ अधिक रहा है। बर्मा और भारतवर्ष के बीच आदान-प्रदान कब आरम्भ हुआ इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि ईसा की पहली और दूसरी सदियों में भारतीय सभ्यता की जो लहर दक्षिण-पूर्व एशिया में फैली वह लहर बर्मा में भी पहुँची होगी। जावा, सुमात्रा, चम्पा, काम्बोज आदि देशों में भारतीय उपनिवेशों के प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं। बर्मा में भारतीय संस्कृति का समागम किस प्रकार हुआ, इस ऐतिहासिक प्रसंग पर अभी तक प्रकाश नहीं पड़ सका है। बर्मा का सब से प्राचीन राज्य, जिसका प्रमाण मिल सका है, प्रोम है। प्रोम की स्थापना का अनुमान ईसा की पाँचवीं सदी में लगाया जाता है। बर्मा का अधिकांश भाग प्रोम के अधीन था। लगभग ५०० वर्षों तक प्रोम के शासकों ने बर्मा पर राज्य किया, परन्तु गृह-युद्धों के कारण प्रोम की शक्ति क्षीण हो गयी और अन्त में उसका अस्तित्व जाता रहा। दसवीं सदी में बर्मनों ने पेगन में एक दूसरा राज्य स्थापित किया। पेगन राजबंश के आधिपत्य के समय से बर्मा का क्रमबद्ध इतिहास आरम्भ होता है। राजा अनवर्त (१०४४–७७) इस बंश का सुविख्यात शासक हुआ जिसने समस्त देश को जीत कर बर्मा में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की। अनवर्त का शासन-काल बर्मा का स्वर्णयुग कहा जाता है। इसी समय बर्मा में हीनयान बौद्ध सम्प्रदाय का उत्कर्ष हुआ, पाली धर्म-ग्रन्थों की भाषा हुई और भारतीय वर्णमाला अपनाई गई। अनवर्त के समय से बर्मा में बौद्ध संस्कृति का प्रसार हुआ और लगभग २०० वर्षों तक पेगन दक्षिण-पूर्व एशिया का धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्र बना रहा। तेरहवीं सदी के मध्य में चीन के युनन प्रान्त से शान जत्थों के हमले बर्मा पर होने लगे। सन् १२८७ ई० में शान सेनाओं ने पेगन को तहस-नहस कर डाला। पेगन की पराजय के साथ बर्मा की एकता जाती रही और एक केन्द्रीय शासन के स्थान पर आवा, टांगू, पेगू

और मर्तबान में चार छोटे-छोटे राज्य बन गये जो प्राय: एक दूसरे के साथ लड़ते रहे। लगभग २०० वर्षों तक बर्मा को शान्ति न मिली। धीरे-धीरे उत्तरी बर्मा का अधिकांश भाग शान आधिपत्य में आ गया। सन् १५२७ में आवा को पराजित कर शान साशकों ने पूरे अपर बर्मा को अपने अधिकार में कर लिया।

शान आक्रमणों से ऊब कर अधिकांश बर्मन दक्षिण बर्मा के तांगू राज्य में जाकर बस गये। आवा की पराजय के बाद तांगू बर्मी राष्ट्रीयता का केन्द्र बना। धीरे-धीरे बर्मनों की शक्ति बढ़ी और १६ वीं सदी में तांगू दक्षिण-पूर्व एशिया का एक शक्तिशाली राज्य बन गया। पेगू, प्रोम, मर्तमान, अराकान को जीत कर बर्मी सेनाये आसाम, युनन और श्याम की ओर बढ़ीं। तांगू वंश के राजा बेईयांग के शासन काल में (सन १५५०–८० ई०) बर्मी सेनाओं ने मनीपुर, युनन और अयुथिया (श्याम) पर अधिकार कर लिया। इन विजयों से तांगू राज्य का विस्तार तो बढ़ा, किन्तु लगातार युद्ध में लगे रहने के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो गयी। उसके युद्धों से लोअर बर्मा उजड़ गया। मौन जत्थे, जो अब तक शिथिल होकर बैठे थे, तांगू वंश की शक्ति क्षीण होते ही सर उठाने लगे। सन् १७५२ ई० में उन्होंने आवा पर चढ़ाई की और उसे नष्ट कर डाला। बर्मन सत्ता एक बार फिर लुप्त हो गयी, परन्तु कुछ ही वर्ष बाद बर्मनों ने फिर अपने को संगठित किया और अलांगपय के नेतृत्व में अपनी खोई हुई सत्ता को प्राप्त करने के लिये वे तत्पर हो गये। सन् १७५६ तक प्राय: पूरा बर्मा फिर उनके आधिपत्य में आ गया और अलांगपय के वंशजों ने देश में केन्द्रीय शासन स्थापित किया। पहले की तरह इस बार भी बर्मी राजाओं ने युद्ध और राज्य-विस्तार की नीति को अपनाया। बर्मी सेनाओं ने श्याम पर चढ़ाई किया और अयुथिया को रौंद डाला। उत्तर में मनीपुर और आसाम पर भी उसके हमले होने

लगे। बर्मी राजाओं का भारतवर्ष की सीमा पर बढ़ना उनके लिये घातक सिद्ध हुआ। भारत की सीमा पर उनके हमलों को रोकने के लिये बंगाल से अंग्रेजी सेनाओं ने सन् १८२६ में अराकान पर चढ़ाई किया। बर्मी सेनाय पराजित हुईं और क्षति-पूर्ति के रूप में अराकान और टनासरिम अंग्रेजों के हवाले किये गये। सन् १८५२ में दूसरा युद्ध आरम्भ हुआ। इस बार बर्मी शासकों ने शेष लोअर बर्मा अंग्रेजों को देकर उनसे अपनी जान छुड़ाई। केवल अपर बर्मा बर्मी राजाओं के हाथ में रह गया। सन् १८८५ में यह भी उनके हाथ से जाता रहा। मांडले में फ्रांसीसियों का प्रभाव बढ़ते देख अंग्रेजों को चिन्ता हो गयी। एक व्यवसायिक झगड़े का बहाना लेकर सन् १८८५ में अंग्रेजों ने युद्ध छेड़ दिया। अंग्रेजों के साथ बर्मा का यह तीसरा और अन्तिम युद्ध था। राजा को गद्दी से उतार कर अंग्रेजों ने अपर बर्मा को भी अपने भारतीय साम्राज्य में मिला लिया। सन् १८८६ से बर्मा ब्रिटिश भारत का एक प्रान्त बन गया।

बर्मा की वैधानिक प्रगति

सन् १८८६ से लेकर सन् १९३५ ई० तक बर्मा की वैधानिक प्रगति ब्रिटिश भारत की वैधानिक प्रगति के समान रही। सन् १८९२, १९०९ और १९१९ के सुधारों के अनुसार बर्मा में भी वैधानिक परिवर्तन हुये। सन् १९१९ के मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार के अनुसार ब्रिटिश भारत के दूसरे प्रान्तों की तरह बर्मा में भी द्वैध शासन (Diarchy) स्थापित हुआ। सन् १९२७ में साइमन कमीशन की सिफारिश के आधार पर सन् १९३५ के शासन-विधान में बर्मा भारतवर्ष से अलग कर दिया गया। सन् १९३७ में बर्मा का शासन गवर्नर और उसके मंत्रि मंडिल के हाथ में आ गया, जिसका भारत सरकार से कोई वैधानिक सम्बन्ध न रहा। सन् १९३५ के बर्मा ऐक्ट में मंत्रि-मंडल के

अधिकार प्रायः वैसे ही थे, जैसे १९३५ के भारतीय विधान में हमारे प्रान्तीय मंत्रि मंडलों के। सुरक्षा, विदेश और कवायली क्षेत्र मंत्रि मंडल की अधिकार-सूची से बाहर थे। ये गवर्नर के नियंत्रण में रखे गये। बर्मा के लोग इस विधान से सन्तुष्ट न थे, पर "थाकिन दल" के अतिरिक्त बर्मा के सभी दलों ने मिल कर इसे कार्यान्वित करना चाहा। हाँ, वे उसकी त्रुटियों और कमियों का विरोध बराबर करते रहे। "थाकिन दल" उग्रवादियों का दल था। इसमें अधिकांश विद्यार्थी थे। यू आंग सान इस दल के नेता थे।

सन् १९४० में जापान ने जब हिन्द चीन पर अधिकार कर लिया और पश्चिम की ओर क़दम बढ़ाया तो बर्मियों को अपने देश की रक्षा के लिये चिन्ता उत्पन्न हो गयी। उनको यह सन्देह हो गया कि अंग्रेज उनकी रक्षा नहीं कर सकते। सन् १९४१ में बर्मा के तत्कालीन प्रधान मंत्री यू सा इंगलैंड गये और उन्होंने अंग्रेज़ी सरकार के सामने यह प्रस्ताव रक्खा कि यदि ब्रिटेन बर्मा को तत्काल औपनिवेशिक स्वराज्य दे दे तो जर्मनी और जापान के विरुद्ध युद्ध में बर्मा पूर्णरूप से मित्र राष्ट्रों के साथ सहयोग करेगा। अंग्रेज़ी सरकार ने यू सा के प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया। इसी बीच जापान से गुप्त संधि करने के संदेह में यू सा अमेरिका में पकड़ लिये गये और युद्ध के अन्त तक नज़रबन्द रहे। यू सा के पकड़े जाने पर बर्मा में अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध आग भड़क उठी। "थाकिन दल" ने युद्ध में अंग्रेजों का साथ देने से साफ़-साफ़ इनकार कर दिया। इस दल के बहुत से लोग पकड़ कर जेलों में डाल दिये गये, परन्तु इस दल के नेता आंगसान अपने कुछ साथियों के साथ छिप कर जापान चले गये और सन् १९४२ में जापानी सेनाओं के साथ बर्मा आये। मई सन् १९४२ में अंग्रेज़ बर्मा छोड़कर निकल भागे और जापान के संरक्षण में बर्मा में एक

नई सरकार बनाई गयी। डा० बा माव प्रधान मंत्री बने। परन्तु बर्मा की राष्ट्रीय सेना जनरल आंगसान के अधीन थी। सन् १६४३ ई० में बर्मा को स्वतंत्र राष्ट्र घोषित किया गया और दक्षिण पूर्व एशिया के प्राय: सभी देशों में बर्मी राजदूत भेजे गये। डा० बा माव के शासन से 'थाकिन दल' सन्तुष्ट न था। देश में जापानी प्रभाव को बढ़ते देख यह दल सशंकित हो उठा और सन् १६४५ ई० के आरम्भ में जब युद्ध का पाया पलटा तो इस दल ने बर्मा से जापानियों को निकालने में अंग्रेज़ों का साथ दिया। इसी समय जनरल आंगसान ने (Anti Fasist Peoples Freedom League) फासिस्ट विरोधी जन-स्वातंत्र्य संघ की स्थापना की और देश के विभिन्न दलों में एकता लाने का प्रयत्न किया। जनरल आंगसान का नया दल थोड़े ही दिनों में बर्मा का सबसे अधिक शक्तिशाली दल बन गया। सन् १६४५ में जब बर्मा में फिर अंग्रेज़ी शासन स्थापित हुआ तो अंग्रेज़ों ने यह भली भाँति समझ लिया कि आंगसान के फासिस्ट विरोधी दल को अलग रख कर बर्मा की स्थिति को सँभालना संभव न होगा। बर्मा के भावी विधान पर समझौते की बात आरम्भ हो गयी। सन् १६४६ के अन्त में बर्मी नेताओं का दल लन्दन रवाना हुआ और जनवरी सन् १६४७ में 'अटली-आंगसान' समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार बर्मी मंत्रि मण्डल को कैबिनेट का अधिकार दिया गया और बर्मा का भविष्य बर्मी विधान परिषद् पर छोड़ दिया गया। आंगसान बर्मा की अस्थायी सरकार के उपाध्यक्ष बने। यू सा के 'सा से मा' दल और 'लाल झंडे वाले' कम्युनिस्टों ने इस समझौते का विरोध किया। अराकान में कम्युनिस्टों ने विद्रोह कर दिया और आंगसान की सरकार को युद्ध-जनित और दूसरी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। संघर्ष और मतभेद के बीच अपरैल सन् १६४७ में बर्मी विधान परिषद का चुनाव हुआ। विधान परिषद

में आंगसान के दल को बहुमत मिला। विधान परिषद् ने स्वतंत्र बर्मा की मांग की। इसी बीच जुलाई सन् १६४७ में आंगसान और मंत्रि-मण्डल के अन्य ६ मंत्रियों की निर्मम हत्या कर डाली गयी। बर्मा की स्थिति डॉवाडोल हो गयी। परन्तु फासिस्ट विरोधी दल ने अपूर्व धैर्य के साथ स्थिति का सामना किया। थाकिन नू बर्मा के प्रधान मंत्री हुये। ३ अगस्त, सन् १६४७ में विधान परिषद् के निर्णय के अनुसार बर्मा और अंग्रेजी सरकार के बीच समझौता हुआ और ब्रिटिश पालियामेंट ने स्वतंत्र बर्मा विधान की स्वीकृति दी। बर्मा का नया विधान ४ जनवरी सन् १६४८ को कार्यान्वित किया गया।

स्वतत्र बर्मा का विधान

नये विधान के अनुसार बर्मी संघ एक प्रजातत्र है। ब्रिटेन की सरकार से बर्मा का कोई वैधानिक सम्बन्ध नहीं है। बर्मी प्रजातंत्र एक पूर्ण स्वतंत्र देश है। किन्तु ब्रिटेन और बर्मा के बीच जो सैनिक सन्धि हुई है उसमें बर्मी सेना की ट्रेनिंग आदि का अधिकार ब्रिटेन ने अपने नियंत्रण में रखा है। युद्ध के समय वह अपनी सेनाएँ भी बर्मा में उतार सकता है। बर्मा का राष्ट्रपति देश का वैधानिक प्रधान होता है। राष्ट्रपति का चुनाव बर्मा की पार्लियामेण्ट करती है। बर्मी राष्ट्रपति के अधिकार बहुत कुछ ब्रिटेन के राजा की तरह है। शासन में वह दखल नहीं दे सकता। शासन का भार प्रधान मंत्री और उसके मंत्रि-मंडल पर है। बर्मा की पार्लियामेण्ट के दो हाउस है। अपर हाउस के सदस्यों की संख्या लगभग १२५ और लोअर हाउस की २५० है। अपर हाउस का चुनाव इनडाइरेक्ट और लोअर हाउस का डाइरेक्ट होता है। राष्ट्रपति का चुनाव हर पाँचवें वर्ष होता है।

बर्मा का ग्राम्य जीवन

भारतवर्ष की तरह बर्मा भी कृषि प्रधान देश है और अधि-

कांश बर्मी जनता छोटे-छोटे गाँवो में रहती है। बर्मा के गाँव अधिकतर नदियों के किनारे बसे हुए है। बर्मी लोगों को जल से बड़ा प्रेम है। नदियों के किनारे खेलना-कूदना और उनमें नहाना बर्मी बालक और बालिकाओ के मनोरंजन का एक सतत साधन है। आज भी बर्मा का अधिकांश व्यापार नदियों से होता है। बर्मी गाँवो में मकानों की बनावट हमारे मकानों की बनावट से भिन्न होती है। इनके मकान लकड़ी और बाँस के बने होते है। अधिकतर मकान बाँस की झाड़ियों से घिरे होते हैं। उत्तरी बर्मा के गाँवो में चारो तरफ बाँस की झाड़ियाँ प्राय देखने में आती है। गावो में फाटक लगाने को प्रथा है। ये फाटक रात को बन्द कर दिये जाते है। आर्थिक दृष्टिकोण से बर्मा का ग्राम्य जीवन भारतीय ग्राम्य जीवन से अधिक सुखमय है। बर्मा के गाँवो में वह गरीबी नही पाई जाती जो हम हिन्दुस्तान के गाँवों में देखते हैं। बर्मा में मजदूर और कुली का काम अधिकतर भारतीय और चीनी लोग करते है। घर पर सूत कातने और कपड़ा बुनने की प्रथा आज भी बर्मा के कतिपय भागो में पाई जाती है। बर्मा के ग्राम्य जीवन की एक विशेषता यह है कि गाँव से थोड़ी दूर पर प्रायः हर गाँव में बौद्ध साधु का मन्दिर होता है जहाँ पर पोंगी (बौद्ध साधु) रहता है। पोंगी गाँव का पुरोहित ही नहीं वरन् गाँव के बच्चों का शिक्षक भी है। बर्मियों में जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं है। विभिन्न जातियो में रोटी-बेटी का सम्बन्ध चलता है। बर्मा का स्त्री-समाज उन सामाजिक बन्धनों से मुक्त है जो भारतीय स्त्री-समाज को जकड़े हुए है। विवाह आदि के प्रश्न पर उनको पर्याप्त स्वतंत्रता है। उन्हे तलाक का अधिकार भी प्राप्त है। विधवा-विवाह पर भी कोई रोक नहीं है। रहन-सहन में बर्मा की स्त्री भारतीय स्त्रियों की अपेक्षा पाश्चात्य स्त्रियों से मिलती-जुलती हैं। पर वह अपने घर की शोभा ही

नहीं, वरन् समाज के आर्थिक ढाँचे की एक आवश्यक लड़ी है। देश की छोटी-मोटी दस्तकारियाँ उसी के हाथ में हैं। गृहस्थी के हर काम पर उसका पूरा नियंत्रण रहता है।

धर्म और शिक्षा

बर्मा में शिक्षा और धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध है। बर्मा एक ऐसा देश है जहाँ सदियों पहले से शिक्षा का व्यापक प्रचार है। बर्मा के विदेशी यात्रियों ने इस बात का उल्लेख किया है कि बर्मा में ऐसे लोग बहुत कम हैं जो लिखना-पढ़ना नहीं जानते। बर्मा में उस समय भी प्रायः सभी लोग शिक्षित थे, जिस समय योरप में अनिवार्य शिक्षा का कोई नाम भी नहीं जानता था। इसका कारण यह है कि बर्मा के निवासी अधिकांश (८५ प्रतिशत) बौद्ध धर्म के मानने वाले हैं और बर्मा में बौद्ध धर्म की यह परिपाटी है कि हर एक बालक छोटी उमर में ही शिक्षा प्राप्त करने के लिये पोंगी के पास भेज दिया जाता है। पोंगी बर्मा का चलती-फिरती पाठशाला है और उसी के नियंत्रण में बर्मी बालक प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करता है। बौद्ध देशों में कोई ऐसा देश नहीं है जिसमें बौद्ध भिक्षुकों का समाज की शिक्षा में उतना हाथ हो जितना पोंगियों का बर्मा में रहा है। बर्मा में जब अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना हुई तो भारतवर्ष की तरह वहाँ भी अंग्रेज़ी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। लार्ड मेकाले के समय से धीरे-धीरे अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार बढ़ा और मठों का महत्व कम होने लगा। पृथक होने से पहले बर्मा भारतवर्ष का सबसे अधिक शिक्षित सूबा था।

कृषि और व्यवसाय

पहले यह कहा जा चुका है कि बर्मा कृषि-प्रधान देश है। प्रायः ७१ प्रतिशत बर्मी अपनी जीविका कृषि से कमाते हैं। बर्मा दक्षिण-पूर्व एशिया का प्रायः सबसे अधिक उपजाऊ देश है।

चावल यहाँ की प्रधान उपज है। युद्ध से पहले बर्मा से प्रति वर्ष साढ़े तीन लाख टन चावल बाहर भेजा जाता था, जिसमें से लगभग आधा हिन्दुस्तान में आता था। चावल की मिलें बर्मा की प्रधान व्यवसाय हैं। धान के अतिरिक्त बर्मा में गन्ना, रुई, मूमफली और तम्बाकू की भी अच्छी उपज होती है। पहाड़ी इलाकों में चाय और कहवा की खेती होती है। सन् १९२० ई० से पहले आस पास के देशों में बर्मा की बनी हुई चीनी की अच्छी खपत थी, लेकिन विगत २५ वर्षों से, जब से जावा, सुमात्रा और भारतवर्ष में गन्ने की खेती अधिक होने लगी और इन देशों में चीनी का उत्पादन बढ़ा तब से बर्मा में चीनी के व्यवसाय को बड़ा धक्का लगा है। बर्मा में रुई की उपज भी अच्छी होती है लेकिन दक्षिण पूर्व एशिया के दूसरे देशों की तरह बर्मा भी सूती कपड़े के लिये अब तक विदेशों की ही राह देखता रहा है। बर्मा की राष्ट्रीय सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील है। बर्मा की आय का एक दूसरा साधन उसके विस्तृत साखू के जंगल हैं। केवल सरकारी जंगलों का क्षेत्रफल दो करोड़ एकड़ से अधिक है। प्रति वर्ष औसतन ५ लाख टन साखू काटा जाता है जिसमें से लगभग ८० प्रतिशत भारतवर्ष में आता है। साखू के अतिरिक्त बर्मा में पिकाडो नाम की लकड़ी के जंगल पाये जाते हैं। पिकाडो रेल की पटरियों पर बिछाने के काम आती है। बर्मा के जंगलों की आय उसकी पूरी आय का २० प्रतिशत है।

बर्मा की भूमि रत्नगर्भा है। शान का पठार अपने खनिज द्रव्यों के लिये प्रसिद्ध है। यों तो बर्मा में चाँदी, टिन, ताँबा, सीसा, चूना, वेशकीमती पत्थर आदि कई प्रकार के खनिज पदार्थ पाये जाते हैं, फिर भी बर्मा संसार में अपने मिट्टी के तेल के कुओं के के लिये प्रसिद्ध है। सदियों से बर्मा के लोग इरावदी नदी के समीपवर्ती क्षेत्रों में मिट्टी का तेल निकालते आये हैं, लेकिन

ब्रिटिश आधिपत्य के समय से तेल निकालने के लिये बड़ी-बड़ी मशीनें प्रयोग में लायी जाने लगीं। सन् १८८६ ई० में पहले पहल अंग्रेजों की प्रसिद्ध बर्मा आयल कम्पनी स्थापित हुई और क्रमश. तेल के उत्पादन में वृद्धि होने लगी। बढ़ते-बढ़ते सन् १९३७ ई० में पूरे बर्मा में तेल की उपज तीस करोड़ गैलन पहुँच गयी जो सारे संसार के मिट्टी के तेल की उपज की आधी थी। यों तो बर्मा में मिट्टी के तेल की कई कम्पनियाँ है परन्तु बर्मा आयल कम्पनी (बी० ओ० सी०) संसार की सब से बड़ी तेल की कम्पनी है। सन् १९३५ ई० में इस कम्पनी के कर्मचारियों की संख्या १९०९४ थी इसमें रिफाइनरी में काम करने वाले और टिन तैयार करने वाले कर्मचारियों की संख्या सम्मिलित नहीं है। नियंत्रण की दृष्टि से बर्मा की व्यवसायिक स्थिति लंका की व्यवसायिक स्थिति से अच्छी नहीं है। देश के व्यवसाय पर बर्मियों का नियंयण अभी तक प्रायः नगण्य है। व्यवसाय में लगी हुई ९० प्रतिशत पूंजी अंग्रेजी, चीनी और भारतीयों की है। तेल का व्यवसाय प्राय: पूरा अंग्रेजों के हाथ में है। बर्मा में विभिन्न व्यवसायों में लगी हुई ब्रिटिश पूंजी लगभग १० करोड़ पाउंड बतलायी जाती है। राष्ट्रीयकरण के आधार पर बर्मा सरकार देश के आर्थिक जीवन पर अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहती है।

बर्मा और भारतवर्ष

यद्यपि बर्मियों का जातीय सम्बन्ध मंगोलिया, चीन और तिब्बत से रहा है। तथापि बर्मा की सभ्यता और संस्कृति पर भारतवर्ष का अमिट प्रभाव पड़ा है। यह बात सच है कि बर्मा पर भारतीय संस्कृति का वह प्रभाव नहीं रहा है जो किसी समय सुमात्रा, जावा, चम्पा, आदि देशों में पाया जाता था। फिर भी प्रोम, पेगू, और अराकान के किनारे जो खन्डहर मिलते है उनसे यह स्पष्ट है कि किसी समय बर्मा में भारतीय संस्कृति और

सभ्यता का प्रभाव रहा। बर्मी लिपि, भाषा * दन्ड-विधान और वास्तुकला पर आज भी वह प्रभाव देखा जा सकता है। बर्मा के मोन शासक या तो स्वयं भारतीय थे अथवा उन पर भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव था।

बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद बर्मा और भारतवर्ष का सम्पर्क और भी बढ़ गया। अशोक के धर्म-प्रचारक बर्मा भी पहुँचे। मुसलमानी विजय से पहले भारत और बर्मा के बीच निकट सम्पर्क बना रहा। मुसलमानी शासन के ७०० वर्षों में भी एक दूसरे के साथ व्यवसाय होता रहा, यद्यपि हमारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रायः समाप्त सा हो गया। ब्रिटिश आधिपत्य के समय से बर्मा और भारतवर्ष फिर एक दूसरे के निकट आये। सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार बर्मा में भारतीयों की संख्या १०,१७,८२५ थी, जिसमें से ३८,७८,२५ की पैदाइश बर्मा में हुई थी। उसी जन-गणना के अनुसार भारतीयों की संख्या बर्मा की कुल जनसंख्या की ६.९ थी। बर्मा की व्यवसायिक प्रगति और कृषि-सम्बन्धी उन्नति में भारतीयों का विशेष हाथ रहा है और सच बात तो यह

---

* बर्मी भाषा अथवा "म्यांग भाषा" पाली शब्दों से भरी पड़ी है। इसकी वर्णमाला भी भारतीय है और देवनागरी से बहुत कुछ मिलती है। देगनागरी के कुछ अक्षरों का उच्चारण का अन्तर बर्मी लोग नहीं कर पाते। ट, ठ, ड, ढ, ण, और त, थ, द, ध, न, का उच्चारण वे एक ही तरह करते है। स्वरों की जगह पर मात्रा लगाना व्यंजनों को एक में मिला कर लिखना, ये सब नियम देवनागरी लिपि के अनुसार है। लिखावट हिन्दी की तरह बायें से दाहिने चलती है। संस्कृत की तरह पूर्ण विराम के लिये दो खड़ी लकीरें खींच देते हैं। क्रिया का "क्रिया" और विशेषण को "विशेषण" कहते हैं। एक से बारह तक संख्याये संस्कृत की हैं।

है कि बर्मा की व्यवसायिक प्रगति का बहुत कुछ श्रेय भारतीय पूंजी और श्रम को है। कुछ समय तक तो बर्मा और भारतवर्ष के बीच दिन प्रति दिन सम्पर्क बढ़ता गया और हजारों की संख्या में भारतीय बर्मा में जाकर बसने लगे। बहुत से भारतीयों ने जमींदारियाँ भी खरीद ली। दक्षिण बर्मा में मद्रास के चेट्टी जमीदारों के पास २५ लाख एकड़ जमीन बतलाई जाती है। सरकारी नौकरियों में भी भारतीयों की संख्या पर्याप्त हो गयी। आरम्भ में बर्मियों और भारतीयों के बीच अच्छे सम्बन्ध कायम रहे, परन्तु बर्मा में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार ज्यों-ज्यों बढ़ा त्यों-त्यों बर्मियों में भारतीयों के प्रति प्रतिस्पर्धा और डाह के भाव उत्पन्न होने लगे। भारतीयों को सहयोगी और देशवासी के रूप में न देखकर बर्मी जन समाज ने भारतीय श्रम और पूंजी को शंका की दृष्टि से देखना आरम्भ किया और उनके प्रति कटुता के भाव उत्पन्न होने लगे। भारतीय श्रम और पूंजी से सशंकित होना बर्मियों के लिये केवल स्वाभाविक था। भारतीय श्रम और पूंजी से बर्मा के व्यवसाय को प्रोत्साहन तो मिला, परन्तु इस प्रगति से बर्मी जनता का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि इस अर्जित धन का अधिकांश भाग प्रति वर्ष भारत चला आता था। इस व्यवसायिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ भारतीय जमीदारों के प्रति बर्मी किसानों में भी असंतोष बढ़ने लगा। भारतीयों के प्रति बर्मियों में द्वेष और प्रतिस्पर्धा की भावना बढ़ते देख कर सन् १९२७ ई० में साइमन कमीशन ने बर्मा को भारतवर्ष से अलग करने की सिफारिश की और सन् १९३५ के विधान में बर्मा भारतबर्ष से अलग कर दिया गया। बँटवारे के बाद भी बर्मा में भारतीय पूंजी और श्रम दोनों देशों के बीच कटुता का एक बड़ा कारण बना रहा। सन् १९३० और १९३८ ई० के बीच अन्य देशों की तरह बर्मा में भी बेकारी का प्रश्न जटिल हो गया। भारतीय मजदूर, जो अब तक बर्मा

की व्यवसायिक प्रगति का एक अनिवार्य अंग था, परिस्थितियों के बदल जाने पर बर्मी जनता के द्वेष और क्रोध का भाजन बन गया। सन् १९३८ में प्रतिस्पर्धा की ज्वाला भड़की और बर्मा के कई प्रमुख नगरों में बर्मियों और भारतीयों के बीच भीषण दंगे हुये, जिनमें हज़ारों भारतीय मारे गये। स्थिति को बिगड़ते देख ब्रिटिश सरकार ने बर्मा में भारतीय मज़दूरों के भविष्य पर विचार करने के लिये एक कमीशन बिठाया। बेक्सटर कमीशन (Baxter Commission)के प्रस्तावों के आधार पर सन् १९४१ ई० में बर्मा और भारत सरकार के बीच समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप बर्मा में हिन्दुस्तानियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस प्रतिबन्ध का दोनों देशों पर अच्छा प्रभाव पड़ा और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का एक बहुत बड़ा कारण जाता रहा। परन्तु इसी बीच जापानी हमले ने बर्मा में उथल-पुथल मचा दिया। हज़ारों और लाखों की संख्या में बर्मी और हिन्दुस्तानी बर्मा छोड़ कर हिन्दुस्तान में शरण लिये। सन् १९४१ और १९४२ के बीच बर्मा से भागकर चले आने वाले भारतीयों की संख्या ४ लाख बतलायी जाती है। लगभग ३ वर्ष तक बर्मा और भारतवर्ष एक दूसरे से कटे रहे, परन्तु सन् १९४५ के बाद इन दोनों देशों के बीच फिर आदान-प्रदान आरम्भ हो गया। बर्मी शरणार्थी अपने देश को लौटने लगे और स्वदेश लौटे हुये भारतीय भी बहुत बड़ी संख्या में बर्मा की ओर चल पड़े। युद्ध के बाद बर्मा की अन्य आन्तरिक समस्याओं के साथ बर्मा में हिन्दुस्तानियों की समस्या भी सामने आयी। स्वतंत्र बर्मा के विधान मे भारतीयों के नागरिक अधिकार का प्रश्न उठा। उचित तो यह था कि स्वतंत्र बर्मा के विधान में बर्मा में रहने वाले भारतीयों को उसी प्रकार नागरिक अधिकार दिये जाते जैसे बर्मियों को, परन्तु नये विधान में भारतीयों और दूसरे ग़ैर बर्मनों द्वारा बर्मी नागरिकता प्राप्त करने पर कड़े तिबन्ध लगा दिये गये हैं।

उस प्रतिबन्ध का फल यह है कि आज बर्मा में अधिकांश भारतीय विदेशी बन कर रह रहे हैं। विधान की ११ वीं धारा में ग़ैर बर्मनों द्वारा बर्मी नागरिकता प्राप्त करने के लिये जो शर्त रखी गयी है वह इस प्रकार है—"बर्मा में रहने वाले ग़ैर बर्मनों में से केवल वे ही लोग बर्मी नागरिकता के अधिकारी है जो विधान के कार्यान्वित होने की तिथि (४ जनवरी, १६४८) अथवा १ जनवरी १६४२ से ठीक पहले दस वर्षों में से कम से कम ८ वर्ष बर्मा में रहने का प्रमाण दो सकें।" इसका अर्थ यह हुआ कि जिस किसी ग़ैर बर्मन को बर्मी नागरिकता का अधिकार प्राप्त करना है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह बर्मा में ४ जनवरी सन् १६४८ और १६३८ अथवा १ जनवरी सन् १६४२ और १६३२ के बीच कम से कम ८ वर्ष रहा हो। चूंकि सन् १६४३ ई० और १६४५ ई० के बीच अधिकांश भारतीय लगभग ३ वर्ष तक बर्मा से बाहर रहे, इस लिये व्यवहारिक दृष्टि से पहली शर्त उनके लिये बेकार सी है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि जो भारतीय बर्मा में सन् १६३२ ई० से रह रहे है वे ही नागरिकता के अधिकारी हैं। भारतीयों पर इतना कड़ा प्रतिबन्ध पड़ोस के और किसी देश में संभवतः नहीं है। इतना ही नहीं बर्मी सरकार ने भारतीयों के चल और अचल सम्पत्ति के क्रय और विक्रय पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया है। सरकारी नौकरियों से अधिकांश हिन्दुस्तानी निकाल दिये गये हैं। शान्ति के समय में बर्मा सरकार के ये कार्य बर्मा-भारत मैत्री के लिये घातक सिद्ध होते, किन्तु बर्मा को वर्तमान विषम आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों को देखते हुये सम्भवतः उसके ये कार्य क्षम्य समझे जायेंगे। संकीर्ण राष्ट्रीयता से हममें से किसी का भला नहीं है। बर्मा और भारतवर्ष को एक दूसरे के साथ मिल कर चलना और रहना है। राजनैतिक क्षेत्र ही में नहीं, व्यवसायिक क्षेत्र में भी एक दूसरे का सहयोग आवश्यक है। बर्मा भारत को

चावल लकड़ी और मिट्टी का तेल देता है। इसके बदले में भारतवर्ष बर्मा को कोयला, लोहा और कपड़ा देता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। भारतवर्ष बर्मा का सब से बड़ा क्रेता है। बर्मा का ६० प्रतिशत व्यापार भारत के साथ होता है, ऐसी स्थिति में क्या यह आवश्यक नहीं है कि दोनों देश मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखें और दक्षिण-पूर्व एशिया की शान्ति के लिये क़दम मिला कर चलें। विगत एशियाई सम्मेलन में बर्मी प्रतिनिधियों ने जो उद्‌गार प्रकट किये थे उनसे यह भास होता था कि भारत और बर्मा का भविष्य मैत्री और पारस्परिक सहयोग का भविष्य होगा। इन सहानुभूति और सहयोग के उद्‌गारों को हमें कार्य रूप में परिणत करना है।

बर्मा का आन्तरिक संकट

आज बर्मा महान संकट के बीच से गुज़र रहा है। कम्यूनिस्ट आन्दोलन ने गृह-युद्ध का रूप का धारण कर लिया है। कम्यूनिस्ट सेनायें सरकार का खुल कर सामना कर रही हैं। समस्त लोअर बर्मा कम्यूनिस्ट संघर्ष से अन्दोलित है। इस कम्यूनिस्ट आतंक के साथ ही साथ अल्पसंख्यकों का प्रश्न भी एक विकट प्रश्न बन गया है। करेन, शान और काचीन जाति के लोग अपने लिये पृथक-पृथक राज्य की मांग कर रहे हैं। बर्मा सरकार बड़े साहस के साथ स्थिति का सामना कर रही हैं। थाकिन नू की सरकार को अब भी बर्मी जनता का बहुमत प्राप्त है। किन्तु देश में राजनैतिक दलों की वृद्धि हो गई है कि आज कोई भी दल अकेला शासन का भार सँभाल नहीं सकता। बर्मा में इस समय राजनैतिक दलों की संख्या ७० से अधिक है। बर्मा ऐसे छोटे देश में, जिसकी जनसंख्या दो करोड़ से भी कम है, इतने दलों का होना हितकर नहीं है। बर्मा की वर्तमान संकटापन्न अवस्था में राजनैतिक एकता और दृढ़ता नितान्त आवश्यक हैं। बर्मा के इस

राष्ट्रीय संकट में उसके साथ भारत की पूरी सहानुभूति है। परन्तु साथ ही साथ बर्मा में आज जो कुछ हो रहा है, उनसे हमको शिक्षा भी लेनी है। आदर्शों के युद्ध से पहले हमें अपनी स्वतंत्रता की नींव को दृढ़ करना है। आदर्शों का मूल्य है, पर उससे कहीं अधिक मूल्य स्वतंत्रता और उसकी रक्षा का है। आदर्शों की मृगमरीचिका में पड़ कर स्वतंत्रता को संकट में डालना बुद्धिमानी नहीं है।

मलाय संघ

मलाया की राजनैतिक टुकड़ियाँ

दक्षिण-पूर्व एशिया का वह भू-भाग जिसे हम ब्रिटिश मलाया कहते है, भौगोलिक दृष्टि से कोई सीमाबद्ध देश नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी 'मलाया' सम्भवतः कभी एक देश नहीं रहा है। ब्रिटिश मलाया के अन्तर्गत मलाया प्रायद्वीप और उसके आस-पास के कई प्रदेश सम्मिलित हैं, जिनका शासन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों के हाथ में है। मलाया संघ स्थापित होने से पहले ब्रिटिश मलाया में तीन विभिन्न शासन प्रणालियाँ थीं। इसके कुछ भाग पर सीधे ब्रिटेन का शासन था। इस श्रेणी में सिंगापुर, क्रिस्टमस, कीलिंग, पेनांग, मल्लका और तेबुअन के टापू आते थे। इसके अतिरिक्त प्रायद्वीप में ६ देशी रियासतें थीं, जिनका शासन बहुत कुछ कल की हमारी देशी रियासतों से मिलता-जुलता है। इन रियासतों में से हर एक आज भी सुल्तान के अधीन हैं जो अंग्रेज रेजिडेन्ट की सलाह से शासन करता है। मलाया की इन देशी रियासतों के नाम इस प्रकार हैं:—परलिस, केदा, केलांगटन, तैगानू, पेराक, सेलनगर, पहॉग, नेग्री-, सेम्बिलन और जाहौर। इन रियासतों में से पेराक, सेलनगर, नेग्री-सेम्बिलन और पहॉग का एक केन्द्रीय संघ था। अतएव चार इन रियासतों को 'मलाया के संघ राज्य' (The Federated Malay States) के नाम से पुकारा जाता था। बोर्नियो स्थित बुर्नेई और उपरोक्त अन्य पाँच रियासतों का कोई केन्द्रीय शासन नहीं था। अतएव अब तक इन्हें मलाया के असम्बद्ध राज्य

(The Unfederated Malay States) कहा जाता था। विगत फरवरी में मलाया में एक केन्द्रीय शासन स्थापित किया गया है जिसके अन्तर्गत मलाया प्रायद्वीप की नव रियासतों के अतिरिक्त मल्लका और पेनांग भी सम्मिलित कर लिये गये है। इस नये विधान के बाद ब्रिटिश मलाया जो अब तक विभिन्न राजनैतिक इकाइयों में बँटा हुआ था, एक शासन सूत्र में बँध गया है। इस संघ विधान का उल्लेख आगे किया जायगा।

प्राकृतिक बनावट और जलवायु

मलाया प्रायद्वीप के बीचोबीच रीढ़ के आकार की पर्वत श्रेणियाँ उत्तर से दक्षिण फैली हुई है। ये पर्वत श्रेणियाँ कहीं भी सात हजार से अधिक ऊँची नही हैं। मलाया की नदियाँ इन्हीं पर्वत श्रेणियों से निकल कर पूरब की ओर चीन सागर, पश्चिम की ओर हिन्द महासागर में गिरती हैं। प्रायद्वीप का जलवायु आर्द्र और गर्म है। विषवत् रेखा के निकट होने के कारण मलाया में साल भर वर्षा होती है। प्रायः कोई भी दिन ऐसा नहीं जाता जब वहाँ वर्षा न होती हो। सारा देश हरे भरे अगम्य जंगलों से भरा पड़ा है। ब्रिटिश शासन में पिछले ७० वर्षों में जंगल काट कर कृषि के लिये भूमि निकाली गयी है। परन्तु आज भी मलाया का तोन चौथाई भाग घने जंगलो से ढका हुआ है। केवल एक चौथाई भाग पर खेती होती है।

संक्षिप्त इतिहास

पाश्चात्य आधिपत्य से पहले मलाया का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। मलाया के आदि निवासी कौन थे, मलाया में बसी हुई अन्य जातियाँ कब और कैसे आईं, इसका हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय साहित्य में "मलय" प्रदेश का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता कि दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य प्रदेशों की तरह मलाया भी

किसी समय भारतीय उपनिवेश रहा होगा। इतिहासकारों का मत है कि सुमात्रा स्थित श्रीविजय साम्राज्य का उदय सर्व प्रथम मलाया में ही हुआ था। श्रीविजय के पतन के बाद मलाया महा-पहित के आधिपत्य में रहा। इन भारतीय साम्राज्यों के सम्पर्क में आने से मलाया में भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ और पन्द्रहवीं सदी के पहले मलाया के शासक और वहाँ के लोग अधिकांश हिन्दू और बौद्ध थे। १५ वीं सदी में इस्लाम की लहर जब दक्षिण पूर्व एशिया में फैली तो मलाया भी इस लहर से प्रभावित हुआ और वहाँ के लोग भी जावा और सुमात्रा के निवासियों की तरह मुसलमान हो गये। १६ वीं सदी के आरम्भ में जिस समय पुर्तगालियों ने मलाया में क़दम रखा, उस समय मलाया छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, जिनमें ये प्रायः सभी वर्तमान हैं। उस समय पाश्चात्य आधिपत्य को रोकने वाली मलाया में कोई शक्ति नहीं थी। सन् १५११ ई० में पुर्तगालियों ने मलक्का पर चढ़ाई की। उन्होंने क्रमशः पूरे प्रायद्वीप पर अपना व्यवसायिक और राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इसी बीच डच और अंग्रेज़ों ने भी अपना कदम दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ाया। प्रतिद्वन्दिता के संघर्ष में पुर्तगाल के लोग अधिक दिन न ठहर सके। सन् १६४२ ई० में मलक्का उनके हाथ से निकला और प्रायद्वीप से उनका पैर उखड़ गया। पुर्तगालियों के हट जाने के बाद केवल डच और अंग्रेज़ क्षेत्र में रह गये। मलाया की ब्रिटिश-डच प्रतिद्वन्दिता सन् १८०२ ई० तक चलती रही। सन् १८०२ में सिंगापुर अंग्रेज़ों के हाथ में आने के कारण उनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ी। एक के बाद दूसरी मलाया की रियासतें अंग्रेजी प्रभाव में आने लगीं और १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध तक अंग्रेज़ मलाया के सर्वेसर्वा बन गये।

निवासी

मलाया का क्षेत्रफल इंगलैंड और स्काटलैंड के क्षेत्रफल के

बराबर है। पर १६४१ ई० की जन गणना के अनुसार मलाया की जन संख्या ५।। लाख से अधिक न थी। इसी जन गणना के अनुसार मलाया में बसी हुई विभिन्न जातियों का प्रतिशत इस प्रकार था:—

मलाया	..	४१ प्रतिशत
चीनी	...	४३ ,,
भारतीय	...	१३ ,,
योरोपियन	...	०.३३ ,,
अन्य	.	१.५ ,,

मलाया

यद्यपि मलाया संघ में चीनियों की जन-संख्या अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक है,पर चीनियों को मलाया की प्रधान जाति नहीं कहा जा सकता। इस प्रायद्वीप की प्रधान जाति 'मलाया' हैं, जिसका जातीय सम्बन्ध सुमात्रा और जावा के निवासियों से है। मलाया लोग अधिकांश गाँवों में रहते है और कृषि इनकी जीविका का मुख्य साधन है। अधिकांश मलाया सुन्नी मुसलमान हैं और इन पर पाश्चात्य प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर है। मलाया लोगों के जीवन पर उल्मा और मौलवी लोगों का आज भी गहरा प्रभाव है। विदेशियों ने मलाया लोगों की बड़ी प्रशंसा की है। उनका स्वभाव सरल और विदेशियों के साथ उनका व्यवहार बड़ा ही भद्र होता है। संगीत और दूसरी कलाओं में वे निपुण हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि वे आराम पसन्द होते हैं जिसके फलस्वरूप वे आज अपने देश में रहने वाले चीनियों और भारतीयों के मुक़ाबले में पिछड़े हुये हैं। मलाया लोगों की एक विशेषता यह भी है कि वे बड़े मिलनसार होते हैं। उनके लिये किसी समाज में मिल जुल जाना आसान है। उनके अन्दर संकीर्ण राष्ट्रीय

अथवा साम्प्रदायिक भावनायें नहीं हैं। यही कारण है कि विदेशियों के साथ उनका व्यवहार सराहनीय रहा है।

यद्यपि मलाया निवासियों को इस्लाम धर्म स्वीकार किये हुये लगभग ५०० वर्ष हो गये, परन्तु उनकी रहन-सहन, रीति-रिवाज और भाषा में आज भी उनकी प्राचीन संस्कृति की झलक मिलती है। वे आज भी 'सेरीराम' (श्रीराम) 'रन्जुन' (अर्जुन) 'विशनू' (विष्णु) शिव, हनुमान आदि अपने प्राचीन देवताओं और वीरों के नाम से परिचित है। 'मन्तरी' (मंत्री) 'परधान (प्रधान) राजा, महाराजा आदि राजकीय उपाधियां भी सस्कृत में है। 'पूजा' पुसा (उपवास) आदि धार्मिक शब्द भी प्राचीन समय के है। उनकी भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती है, तथापि उसमें संस्कृत के शब्दों की ही अधिकता है। शब्दों के रूप और उच्चारण बदल अवश्य गये है, परन्तु उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता। मलाया की देहाती भाषा में यदि संस्कृत शब्दों की खोज की जाय तो अधिकांश शब्द संस्कृत से सम्बन्धित मिलेंगे। मलाया भाषा में प्रचलित मूल संस्कृत के कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं:—

संस्कृत	..	मलाया
शुचि	....	सुचि
महाशुचि	....	महाशुचि (ईश्वर)
स्वामी	..	सुआमी
स्वर्ग	....	सुअर्ग अथवा सोर्ग
सिंह	....	सिंह
सिंहासन	..	सिंगासन
सत्य	...	सतिय
सर्व	...	सरु
सरोज	....	सुरोज

शृगाल	....	सरिगाल
श्री	....	सरी
श्रीमुख	...	सरीमुक
शाप	....	सराप
संध्या	....	सन्जा
सेवा	....	सेवा
श्लोक	....	सलोक
सोदर	...	सोदर
शिक्षा	....	सेक्सा (दंड)
रूप	....	रूप
रूपवान	....	रूपवान
वर्ण	....	रोन 'रंग'
रोम	....	रोम
रस	....	रसा
रस	....	रसा
पृथ्वी	....	पर्तवी
पुर्णिमा	....	परनमा (मास)
परीक्षा	....	परेक्षा
पंडित	...	पंडित
प्रकृति		पर्किती
अधिपति	...	अदिपति
श्रीपाद	....	सरीपाद

मलाया की भाषा में संस्कृत शब्दों का होना इस बात का प्रमाण है कि किसी समय मलाया में भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव रहा होगा।

चीनी

मलाया में दूसरी प्रधान जाति चीनियों की है। जैसा कि

पहले कहा जा चुका है, चीनियों की संख्या मलाया में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक है। मलाया में रहने वाले २४ लाख चीनियों में से प्रायः ३० प्रतिशत मलाया ही में पैदा हुये है और उनमें से अधिकांश ने मलाया को अपनी मातृभूमि बना लिया है। मलाया की व्यवसायिक प्रगति का बहुत कुछ श्रेय चीनियो को है। मलाया के चीनी अधिकतर वहाँ के बड़े-बड़े नगरों में रहते है। सिंगापुर, पेनांग, कौला, लमपुर, सेरमबाम, इपाह और पेपिंग आदि बड़े-बड़े नगरों में चीनी लोगों का ही बहुमत है। देश के भीतर का सारा कारोबार उन्हीं के हाथ में है। चीनी सम्प्रदाय मलाया का सबसे अधिक धनाढ्य सम्प्रदाय है।

मलाया के भारतीय

मलाया में भारतीयो की संख्या ८ लाख के लगभग है। मलाया की छोटी-मोटी सरकारी नौकरियों और वकालत पेशा में भारतीयों का बहुमत है। किन्तु मलाया के अधिकांश भारतीय अशिक्षित हैं और कुली का काम करते हैं। मलाया में रहने वाले भारतीय अधिकांश तामिल जाति के है, हाँ उत्तर भारत और पंजाब के लोग भी थोड़ी बहुत संख्या में पाये जाते हैं। मलाया के चीनियों और भारतीयो में यह अन्तर है कि अधिकांश चीनी मलाया में बस गये हैं और देश के आन्तरिक व्यवसाय को उन्होंने अपने हाथ में ले लिया है। भारतीयों की स्थिति भिन्न है। अधिकांश भारतीय नौकरी पेशा है और कुछ समय के बाद अपने देश को लौट आते है। रबर के बगीचों में काम करने वाले अधिकांश कुली भारतीय है।

अन्य जातियाँ

चीनियो और भारतीयों के अतिरिक्त मलाया में अन्य जाति के लोग भी रहते हैं, जिनकी संख्या बहुत कुछ सीमित है। मलाया में योरोपियनों की संख्या लगभग २० हज़ार है, इनमें से

अधिकांश अंग्रेज हैं। यद्यपि अंग्रेजों की संख्या चीनियों और भारतीयों की तुलना में नगण्य है, फिर भी मलाया के राजनैतिक, आर्थिक और व्यवसायिक जीवन में उनका प्रभाव कहीं अधिक है। बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ और विदेशी व्यवसाय उन्हीं के हाथों में हैं। युद्ध से पहले मलाया में जापानियों की संख्या ६४०० थी जिसमें से अधिकांश रबर और लोहे के व्यवसाय में काम करते थे। इसके अतिरिक्त मलाया की उत्तर की रियासतों में थाई लोग और पहाड़ी भागों में आदिवासी भी रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष की तरह मलाया भी विभिन्न जातियों का अड्डा है। संसार में सम्भवतः मलाया ही एक ऐसा देश है जिसमें विदेशियों की संख्या देशवासियों की संख्या से अधिक है। फिर भी मलाया में उस प्रकार की संकीर्णता और साम्प्रदायिकता नहीं पाई जाती जैसा हम अपने देश में पाते हैं। मलाया में रहने वाले विभिन्न जातियों का व्यवहार एक दूसरे के साथ सराहनीय रहा है। धार्मिक और जातीय मतभेद होते हुये मलाया उस कलह और विभीषिका से मुक्त रहा है जिसने भारतवर्ष के सर को नीचा कर दिया है। मलाया में रहने वाले हिन्दू और मुसलमान आपस में भाई-चारे का सम्बन्ध रखते हैं और उनके बीच वह सामाजिक खाई नहीं है जो उन्हें भारतवर्ष में एक दूसरे से पृथक किये है।

व्यवसायिक प्रगति

ब्रिटिश शासन में मलाया की सर्वतोमुखी उन्नति हुई है। ब्रिटिश आधिपत्य से पहले का मलाया आज के मलाया से सर्वथा भिन्न था। १८ वीं सदी का मलाया अगम्य जंगलों से ढका हुआ भयानक जीव-जन्तुओं, मलेरिया और अन्य कई महामारियों से त्रासित प्रदेश था। देश में सड़कें नहीं थीं। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना सबके लिये सम्भव नहीं था। जन-संख्या भी

आज की तुलना में बहुत कम थी। मलाया निवासी छोटे-छोटे गावों में कृषि से अपनी जोविका चलाते थे। किन्तु आज मलाया का कायापलट हो गया है। आज से सौ वर्ष पहले जिस मलाया का अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कहीं नाम तक नहीं था, वही मलाया सम्भवत: संसार का सबसे अधिक सम्पन्न उपनिवेश बन बन गया है। ब्रिटिश शासन में मलाया व्यवसायिक प्रगति की पराकाष्ठा को पहुँच गया है। टिन और रबर के उत्पादन में वह संसार के किसी भी देश का मुकाबला कर सकता है। युद्ध से पहले मलाया में टिन का उत्पादन संसार के उत्पादन का ४० प्रतिशत था। सन् १९३७ ई० में मलाया के अन्दर ३३ लाख एकड़ रबर के बगीचे थे। प्रकृति ने मलाया को विभिन्न बहुमूल्य खनिज पदार्थों से भर रखा है। टिन के अतिरिक्त जो मलाया का प्रधान खनिज है, देश में लोहा, सोना, चाँदी, ताँबा, पारा, मैग-नीज़, चूना, आरसेनिक आदि की खदानें भी पाई गयी हैं। यह महान् द्रव्य, जो अब तक देश के भू-गर्भ में छिपा हुआ था, विज्ञान के बल पर अंग्रेजों ने उसे खोद कर बाहर निकाला। जिस मलाया में कुछ ही वर्ष पहले यातायात के साधनों का नितान्त अभाव था, उसी मलाया में रेल, तार, डाक और सड़कों का जाल बिछ गया है। पिछले दो दशकों से कृषि में भी निरन्तर सुधार हुआ है। हजारों एकड़ भूमि जो पहले जंगलों से ढकी हुई थी, वहाँ आज हरे-भरे धान के खेत देखने को मिलते हैं। अभी भी लाखों एकड़ भूमि अगम्य जंगलों से ढकी हुई है।

शिक्षा प्रसार

व्यवसायिक प्रगति के साथ मलाया में शिक्षा प्रसार की ओर भी ब्रिटिश शासकों ने विशेष ध्यान दिया है। १९ वीं सदी के अन्त तक मलाया लोग अपने बच्चों को अरबी मदरसों में भेजते थे, वहाँ उनको अरबी कुरान पढ़ाया जाता था। यद्यपि मलाया

के मुसलमानों के लिये अरबी एक अपरिचित भाषा थी, फिर भी परम्परा के नाते वे अपने बच्चों को मक़तबों में भेजते थे। हां, इधर पिछले दो या तीन दशकों से उनका ध्यान अपनी मातृभाषा की ओर गया है और अब मलाया बच्चे आरम्भ से ही 'मलाया' भाषा की शिक्षा के लिये अनिवार्य रूप से प्राइमरी स्कूलों में जाते हैं। जातीय विभिन्नता के कारण मलाया में हर जाति के अलग-अलग स्कूल हैं। मलाया की शिक्षा मलायों के लिये अनिवार्य और निःशुल्क है। गरीब और मध्यम श्रेणी के चीनी और हिन्दुस्तानी अपने बच्चों को चीनी और हिन्दुस्तानी स्कूलों में पढ़ाते हैं। चीनी और हिन्दुस्तानी स्कूल प्राइवेट हैं। मलाया सरकार की ओर से इन स्कूलों को कोई विशेष आर्थिक सहायता नहीं मिलती। ये स्कूल चीनी और हिन्दुस्तानियों के पैसे से चलाये जाते हैं। इन स्कूलों के अतिरिक्त मलाया में सरकारी स्कूल भी हैं जहाँ अंग्रेज़ी की शिक्षा दी जाती है। इन सरकारी स्कूलों में चीनी, हिन्दुस्तानी और मलाया सभी जाति के बच्चे साथ पढ़ते हैं। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिये मलाया के ब्रिटिश शासकों ने विशेष सुविधा दे रखी है। देश के प्रमुख नगरों में माध्यमिक शिक्षा के लिये सरकारी स्कूल हैं। मिशनरी स्कूलों ने भी अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार में हाथ बँटाया है। उच्च शिक्षा के लिये मलाया में कोई विश्वविद्यालय नहीं है। केवल सिंगापुर में एक मेडिकल कालेज, एक साधारण कालेज, और कुआला लम्बर में एक टेकनिकल कालेज है। उच्च शिक्षा के लिये मलाया के विद्यार्थियों को विदेशों में जाना पड़ता है। विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को मलाया सरकार समुचित आर्थिक सहायता देती है।

चित्र का दूसरा पहलू

यह तो हुई मलाया में ब्रिटिश शासन के एक पहलू की बात। आइए, हम उसके दूसरे पहलू की ओर भी दृष्टि डालें और देखें

कि इस चमक-दमक और व्यवसायिक प्रगति से मलाया निवासियों को क्या लाभ हुआ है। माना कि अंग्रेज़ी शासन ने मलाया को अच्छी-अच्छी सड़कें दीं, रेल, तार, डाक का ऐसा प्रबन्ध किया जैसा दक्षिण पूर्व एशिया के प्रायः किसी दूसरे देश में नहीं है। ब्रिटिश शासन में मलाया में अच्छे-अच्छे नगर बसे, बिजली का प्रकाश छोटे-छोटे नगरों तक पहुँचाया गया, अस्पताल और स्कूल खुले, मलेरिया के प्रकोप को रोकने के लिये प्रयत्न भी किये गये, किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि विगत १०० वर्षों में विदेशियों ने मलाया का भयंकर शोषण किया है। अंग्रेज़ी राज्य में मलाया की व्यवसायिक उन्नति तो हुई और अपने व्यवसाय के कारण मलाया संसार का एक प्रमुख उपनिवेश बन चला है, परन्तु मलाया निवासियों की आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हुआ है। अपार धन के बीच मलाया निवासी आज भी ग़रीब है। पिछले १०० वर्षों में उनके देश का धन तो बढ़ा, किन्तु वह धन उनके हाथ न लगा। मलाया के भूगर्भ में छिपी हुई महान सम्पत्ति विदेशियों के हाथ में चली गयी। मलाया सम्पन्न होते हुये भी आज एक ग़रीब देश है क्योंकि उसके प्राकृतिक साधनों का उपयोग केवल शोषण के लिये किया गया है। आज भी मलाया का अधिकांश व्यवसाय विदेशियों के हाथ में है। रबर और टिन के व्यवसाय का बहुत बड़ा भाग अंग्रेज़ पूंजीपतियों के हाथ में है। उसकी सोने की खदानों पर आस्ट्रेलिया का नियंत्रण है। तम्बाकू और रबर के व्यवसाय में अमेरिका का भी हाथ है। उसके बैंक अधिकतर अंग्रेज़ और चीनियो के हैं। सिंगापुर में अमेरिका, जापान और हालैंड के भी बैंक हैं।

राजनैतिक स्थिति

मलाया निवासियों का जो नियंत्रण अपने देश के आर्थिक

जीवन और व्यवसाय पर है उससे कहीं कम देश की राजनीति और उसके शासन पर है। ब्रिटिश आधिपत्य के विगत १०० वर्षों में मलाया के शासन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। आरंभ से ही देश का शासन पूर्णतया अंग्रेजों के हाथ में रहा है। स्टेट सेटिलमेंट के टापुओं की तरह देशी रियासतों के शासन में भी जनता का कोई हाथ नहीं रहा है। स्टेट सेटिलमेंट के प्रदेशों पर सीधे अंग्रेज़ गवर्नर का नियंत्रण रहा है जो अपने सलाहकारों की सहायता से शासन चलाता रहा है। सेटिलमेंट की स्टेट कौंसिल (व्यवस्थापिका सभा) के सब सदस्य गवर्नर द्वारा नामज़द किये जाते थे। उसमें जनता के निर्वाचित सदस्यों के लिये कोई स्थान न था। मलाया की देशी रियासतों में भी जनता की आवाज़ नहीं थी। कहने को तो ये रियासतें अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्र थीं, पर वास्तव में वहाँ भी अंग्रेज़ रिजेन्ट, सलाहकार और सिविल कर्मचारियों का बोलबाला था। यद्यपि मलाया के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार ने औपनिवेशिक स्वराज्य की नीति को स्वीकार कर रखा था, किन्तु अंग्रेज शासकों ने मलाया को इस प्रकार रखा था कि कम से कम आगामी ५० वर्षों तक तो उसकी स्वतंत्रता का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। ब्रिटिश शासन ने मलाया में बहुत कुछ वैसी ही समस्याएं पैदा कर दी हैं जैसी भारतवर्ष और फिलिस्तीन में। मलाया के सम्बन्ध में अब तक अंग्रेज़ अपना पुराना तर्क दुहराते रहे। वह तर्क यह है कि मलाया विभिन्न जातियों का देश है। इस देश में शान्ति केवल अंग्रेज़ी शासन के कारण बनी हुई है। अंग्रेज़ों के हट जाने पर मलाया जातीय और साम्प्रदायिक कलह में भस्म हो जायगा। इसमें संदेह नहीं कि मलाया में विभिन्न जाति के लोग रहते हैं और उनके बीच संघर्ष का होना भी असम्भव नहीं है। संघर्ष तो किसी भी देश में कराया जा सकता है। परन्तु यह कहना कि मलाया के लोग अपने देश

के शासन को सँभाल न सकेंगे, ठीक नहीं जान पड़ता। मलाया निवासी आज राजनीति की ओर से उदासीन नहीं हैं, जैसा प्रायः कहा जाता है। राष्ट्रीयता की लहर आज सारे एशिया में फैल चुकी है। आज यह नहीं कहा जा सकता कि मलाया में राष्ट्रीय जागृति नहीं है। दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों की इधर मलाया में भी राष्ट्रीय भावना उग्र हो उठी है। देखना है कि सामन्तवाद और साम्राज्यवाद जनमत के इस वेग को कब तक दबा कर रख सकते हैं। एक समय था जब मलाया के लोगों में राजनीति की ओर से उदासीनता थी। उन्हें अपने देश के राजनीतिक और आर्थिक प्रश्नों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। परन्तु उदासीनता का युग तो सन् १९४१ के जापानी हमले के साथ समाप्त हो गया। तीन वर्ष के जापानी शासन में मलाया की स्थिति बदल गयी। यद्यपि अपने आधिपत्य में जापानियों ने भी मलाया का भयंकर शोषण किया और उसके आर्थिक ढाँचे को उखाड़ डाला, तथापि जापानी आधिपत्य का देश पर गहरा राजनैतिक प्रभाव पड़ा। मलाया में विदेशी शासन के विरुद्ध आवाज़ उठ खड़ी हुई। जापान की पराजय के बाद सन् १९४५ के अन्त में अंग्रेज़ जब फिर लौटे तो उन्होंने मलाया को बदला हुआ पाया। परन्तु वे स्थिति का ठीक अनुमान न कर सके। उन्होंने समझा कि जापानियों के प्रचार के कारण देश में यह स्थिति उत्पन्न हुई है और कुछ दिन के बाद मलाया के लोग ब्रिटिश शासन के हामी बन जायेंगे। मलाया के सुल्तानों ने ब्रिटिश शासन का स्वागत किया, लेकिन अंग्रेज़ों को अपनी जड़ जमाते देख मलाया का जनमत क्षुब्ध हो उठा।

मलाया का जन-आन्दोलन और नया विधान

दिसम्बर सन् १९४६ में मलाया के राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्वावधान में एक अखिल मलाया कौंसिल (The All Malaya

Council for Joint Action) की स्थापना हुई और देश में लोकतंत्रात्मक संघ शासन के लिये आन्दोलन की तैयारी की गयी। इस अखिल मलाया कौंसिल में देश के सब राजनैतिक दलों ने सहयोग दिया। इतना ही नहीं, मलाया की हर जाति के लोग देश की एकता, राजनैतिक एवं आर्थिक समानता और स्वाधीनता के आधार पर कौंसिल के सदस्य बनने को तैयार हो गये। कुछ महीनों में ही मलाया कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढ़ कर ४ लाख से अधिक हो गयी और राष्ट्रीय मोर्चे में जान आ गयी। मलाया कौंसिल ने देश में संघ-शासन की मांग की और स्वतंत्र मलाया संघ का एक विधान भी प्रस्तुत किया। मलाया कौंसिल के पीछे जनता का समर्थन देख कर ब्रिटिश सरकार ने वैधानिक परिवर्तन की मांग को स्वीकार कर लिया। जुलाई सन् १६४७ में ब्रिटिश वैदेशिक विभाग से घोषित किया गया कि ब्रिटेन मलाया में संघ शासन स्थापित करना चाहता है। लगभग २ वर्ष के परिश्रम के बाद मलाया का प्रस्तावित संघ-शासन विगत फ़रवरी में उद्घाटित किया गया है। इस विधान के अनुसार मलाया एक संघ-राज्य है। इस संघ में मलाया की ६ रियासतें और मल्लका एवं पेनांग के प्रदेश सम्मिलित किये गये हैं। सिंगापुर, स्ट्रेट सेटिलमेन्ट के दूसरे टापू और बोर्नियो स्थित ब्रुनई रियासत इस संघ से अलग है।

इस विधान के अनुसार मलाया का ब्रिटिश हाई कमिश्नर संघ का प्रधान शासक होगा। उसकी सहायता के लिये एक कार्यकारिणी और एक धारा सभा होगी। धारा सभा के सदस्यों की संख्या ७५ है, जिसमें १४ सरकारी और ६१ गैर सरकारी सदस्य होंगे। धारा सभा में जनता की आवाज न होगी, क्योंकि ६१ गैर सरकारी सदस्य भी हाई कमिश्नर द्वारा नामज़द होंगे। इसके अतिरिक्त धारा सभा के अधिकार भी हाई कमिश्नर के

विशेषाधिकारों द्वारा सीमित कर दिये गये हैं। संघ की रियासतों में भी कार्यकारिणी और धारा सभायें होंगी। केन्द्रीय कार्यकारिणी और धारा सभा की तरह इन रियासतों की कार्यकारिणी और धारा सभाएं सुल्तान के नियंत्रण में काम करेंगी।

प्रस्तुत विधान का विरोध मलाया के प्रायः हर राजनैतिक दल ने किया है। सुल्तानों और मलाया के दक्षिण पक्ष वालों के बल पर अंग्रेजों ने विधान को चलाने का प्रयत्न किया परन्तु सफलता की आशा दिखलाई नहीं पड़ती। इस विधान का विरोध प्रधानतः दो कारणों से है। पहले तो यह कि सिंगापूर मलाया संघ से अलग रखा गया है। मलाया के लोग चाहते हैं कि सिंगापूर भी संघ में मिला दिया जाय और यहाँ का शासन भी जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में सौंप दिया जाय। दूसरे यह कि इस विधान में शासन-सम्बन्धी अधिकांश अधिकार हाई कमिश्नर को दे दिये गये हैं। देश के शासन में जनता का कोई विशेष हाथ नहीं है। बाम पक्षियों के सुल्तानों के साथ जो राजनैतिक समझौते हुए हैं उनका का भी विरोध किया है। परन्तु इस विधान की सब से बड़ी त्रुटि यह है कि मलाया की आर्थिक और व्यवसायिक नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। पहले की तरह देश का आर्थिक जीवन आज भी विदेशी शासकों के हाथ में हैं।

वर्तमान कम्यूनिस्ट आन्दोलन

विधान के उद्‌घाटन से पहले अंग्रेजों ने जो आशावादिता दिखलाई थी वह क्षणिक सिद्ध हुई। देश में नये विधान का विरोध देखते हुये भी अंग्रेजों ने इसे लागू किया, पर ६ महीने भी न बीतने पाये कि मलाया में कम्यूनिस्टों और अन्य बाम पक्षियों ने भीषण आन्दोलन छेड़ दिया। इस हिंसक और उग्र आन्दोलन के पीछे मलाया के चीनियों का विशेष हाथ है जिन्होंने उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त विधान का विरोध इस लिये भी

किया है कि इस विधान में उनके मताधिकार सीमित कर दिये गये हैं। परन्तु मलाया में आज जो कुछ हो रहा है उसके लिये केवल चीनी कम्यूनिस्टों को उत्तरदायी कहना ठीक नहीं जान पड़ता। इस आन्दोलन की जड़ ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति है। आज मलाया की जनता अपने देश में अपना राज चाहती है। मलाया के लोग अपने देश के आर्थिक शोषण को बन्द करना चाहते हैं। वर्तमान कम्यूनिस्ट आन्दोलन मलाया की राष्ट्रीय मांग का एक उग्र विस्फोटक है। माना कि मलाया की अधिकांश जनता कम्यूनिस्टों की हिंसक नीति की समर्थक नहीं है, पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मलाया की जनता ब्रिटेन की साम्राज्यवादी चालों से भी ऊब गयी है। मलाया की शान्ति अभी दूर है। वर्तमान कम्यूनिस्ट आन्दोलन निश्चय ही दबा दिया जायगा, किन्तु यदि मलाया के शासक यह समझते हों कि कम्यूनिस्टों को दबा कर मलाया में पुरानी औपनिवेशिक नीति के अनुसार शासन किया जा सकेगा, तो वे सर्वथा भ्रम में हैं। मलाया के लोग अपने देश में विदेशी शासन का अन्त चाहते हैं, अतएव जब तक कूटनीति और सैनिक शक्ति के बल पर वहाँ कोई विदेशी शासन करना चाहेगा, मलाया में अशांति बनी रहेगी।

हिन्द एशिया

भौगोलिक स्थिति

हिन्द एशिया मलाया प्रायद्वीप और आस्ट्रेलिया के बीच हज़ारों मील की लम्बाई में बिखरे हुये द्वीप समूह का संसार में सब से बड़ा जखेड़ा है। इन द्वीप समूहों को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। "ईस्ट इंडीज़" "इंसुलेंड" "इंडोनेशिया" अथवा "हिन्द एशिया" इन के विभिन्न नाम हैं। हिन्द एशिया के अन्तर्गत सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, बाली, लम्बक, सेलीबीज़ फ्लोर्स, तिमर, मालूकास अथवा मसालों के द्वीप समूह और न्युगिनी शामिल हैं। सुमात्रा हिन्द एशिया का सब से बड़ा द्वीप है। क्षेत्रफल में यह संसार का तीसरा बड़ा टापू है, पर एशिया में जो विशेषता जावा की है वह सुमात्रा अथवा अन्य किसी द्वीप की नहीं है। जावा हिन्द एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन का केन्द्र है। इसका क्षेत्रफल इंगलैड के क्षेत्रफल से १०० वर्गमील अधिक और जनसंख्या इंगलैड की जनसंख्या से ५० लाख अधिक है। जावा संसार का सब से अधिक घना बसा हुआ देश है। डच हिन्द एशिया की ७ करोड़ ५० लाख जनसंख्या में से ४ करोड़ ५० लाख केवल जावा में है। हिन्द एशिया का क्षेत्रफल अमेरिका के क्षेत्रफल का एक चौथाई और जर्मनी के क्षेत्रफल का तीन गुना है। सुमात्रा से लेकर न्युगिनी तक इसकी लम्बाई ३ हज़ार मील के लगभग है। प्रायः पूरा पूर्वी द्वीप समूह हालैंड के आधिपत्य में है। केवल न्युगिनी के एक भाग पर आस्ट्रेलिया, बोर्नियो के एक भाग पर ब्रिटेन और तिमर द्वीप के एक भाग पर पुर्तगाल

का आधिपत्य है। उत्तर-पूर्व के फिलिपाइन्स द्वीप समूह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नियंत्रण हैं।

जलवायु और उपज

विषवत् रेखा के समीप होने के कारण इन द्वीप समूहों का जलवायु गर्म और आर्द्र है। घाटियों और मैदानों में बेहद गर्मी पड़ती है और साल के हर महीने में वर्षा होती है। पहाड़ों का जलवायु ठंढा होता है। हिन्द एशिया के सभी द्वीप पहाड़ी हैं और इनमें से प्रायः हर एक में ज्वालामुखी पहाड़ पाये जाते हैं। ज्वालामुखी पहाड़ों की मिट्टी ने हिन्द एशिया की भूमि को उर्वर बना दिया है। उर्वर भूमि और प्रचुर जल के मेल से देश का कोना-कोना हरे भरे जंगलों से ढका हुआ है। इन जंगलों में कुनैन और दूसरे उपयोगी वृक्ष पाये जाते हैं। मैदानों में ये जंगल काट डाले गये हैं और वहां पर चावल, गन्ना, काफी, नारियल और दूसरे खाद्य और व्यवसायिक पदार्थ उपजाये जाते हैं। चावल हिन्द एशिया निवासियों का प्रधान भोजन है। संसार के अन्य किसी देश में इतना अधिक धान पैदा नहीं होता। जावा की प्रधान उपज गन्ना है। अभी १५, २० वर्ष पहले हमारे देश में अधिकांश चीनी जावा से आती थी। मालुकास द्वीप अपने गर्म मसालों के लिये प्रसिद्ध है जिसमें पीपल, लौंग, जायफल और कपूर मुख्य है। सुमात्रा की प्रधान उपज रबर है। सन् १६४० ई० में पूरे संसार की उपज का ४५ प्रतिशत रबर सुमात्रा में हुआ था। उसी वर्ष मलाया की रबर-उपज संसार की कुल उपज का ४१ प्रतिशत थी। खाद्य पदार्थों की तरह खनिज पदार्थों में भी हिन्द एशिया संसार का सब से अधिक धनवान उपनिवेश माना जाता है। हिन्द एशिया की भूमि सचमुच स्वर्णगर्भा है। प्रायः हर तरह के खनिज पदार्थ इन द्वीप समूहों में पाये जाते हैं। पत्थर, लोहा, कोयला, पेट्रोल, टिन, पारा, गन्धक, अलमोनियम

रशियाई रूस
मांचुको
मंगोलिया
मुकदेन
रशियाई रूस
कोरिया
जापान
चीन
तिब्बत
हिन्दुस्तान
पाकिस्तान
फारमोसा
फिलिपाइन्स
ब्रह्मा
स्याम
हिन्द चीनी
सारवक
बोर्नियो
सिलेबीज
सुमात्रा
जावा
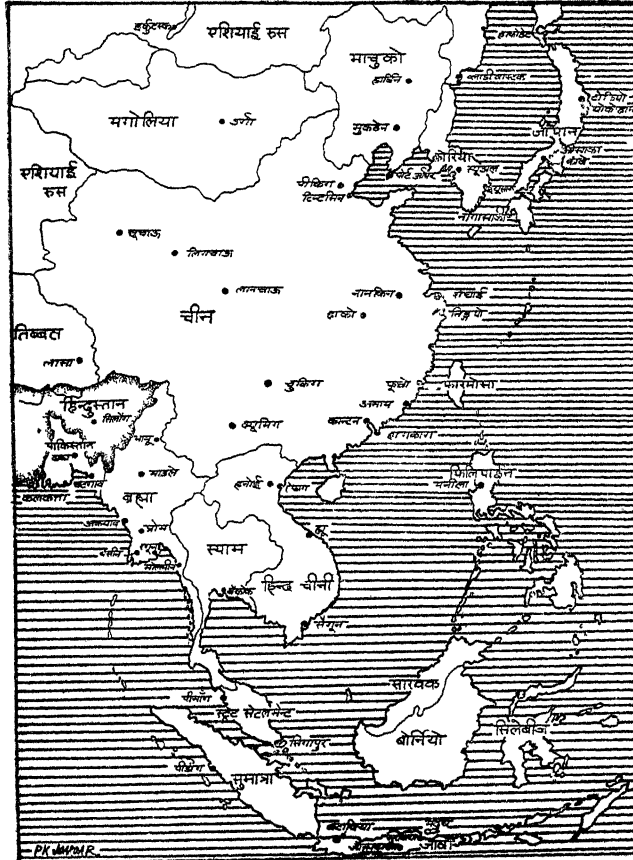
दक्षिण-पूर्व एशिया

तांबा, चांदी, सोना, प्लेटिनम और हीरे की खदाने विभिन्न द्वीपों में पायी गयी है। लोहे और कोयले की खदाने पश्चिमी सुमात्रा में हैं।

निवासी

हिन्द एशिया विभिन्न जातियों और जत्थों का एक अजायब घर है। एक द्वीप से दूसरे द्वीप की रहन-सहन और सभ्यता में अन्तर है। सभ्य, अर्ध सभ्य सभी तरह के लोग इन द्वीप समूहों में रहते हैं। जावा, सुमात्रा, बाली और उसके आस पास के द्वीपों के निवासी भूरे रंग के होते हैं। उनके बाल काले और आकृति मंगोलों से मिलती-जुलती है। जावा, सुमात्रा और बाली के निवासी सभ्य है और देश का नेतृत्व इन्हीं लोगों के हाथ में है। सुमात्रा के मध्य में "मेनांगकन" और "कुबु" और उत्तर-पूर्व में "यचिन" जाति के लोग रहते हैं। बोर्नियों में अधिकांश आदि वासियों की आबादी है, जिनमें "दयाक" जाति प्रधान है। न्युगिनी में "पायुअन" जाति के लम्बी नाक वाले लोग रहते हैं। इसके अतिरिक्त हिन्द एशिया में योरोपियन, चीनी, जापानी और हिन्दुस्तानी भी पर्याप्त संख्या में स्थायी रूप से रहते हैं। इस देश में योरोपियनों की संख्या लगभग २४ लाख है, जिसमें से अधिकांश हालैंड निवासी हैं। शासक जाति होने के कारण हिन्द एशिया का विदेशी व्यापार और ऊंची सरकारी नौकरियाँ डचों के हाथ में हैं। हिन्द एशिया में चीनियों की संख्या ६ लाख से कुछ अधिक बतलाई जाती है। देश का भीतरी व्यापार अधिकतर चीनी व्यापारियों के हाथ में है। सोयराया, पालेनबेंक, बंका, बटेविया आदि व्यवसायिक केन्द्रों में काम करने वाले अधिकांश मजदूर चीनी हैं। हिन्द एशिया में रहने वाले जापानी अधिकतर व्यापारी हैं। जापान की पराजय के बाद बहुत बड़ी संख्या में जापानी स्वदेश लौट गये। हिन्द एशिया में हिन्दुस्तानियों की

संख्या तीन हजार है। अधिकतर हिन्दुस्तानी व्यापारी और नौकरी पेशा है।

हिन्द एशिया में प्रायः सभी धर्मों के अनुयायी पाये जाते है। परन्तु यहाँ के ६० प्रतिशत निवासी मुसलमान है। बाली और लम्बक में हिन्दुओं की आबादी है। पूरे हिन्द एशिया में हिन्दुओं की संख्या १२ लाख से कुछ अधिक है। बौद्धो की संख्या १० लाख और योरोपियनो को छोड़ कर देशी ईसाइयों की संख्या लगभग ४ लाख है।

संक्षिप्त इतिहास

पूर्वी द्वीपसमूहो का क्रमबद्ध इतिहास भारतीय विजय के समय से आरम्भ होता है। भारतीय उपनिवेशो की स्थापना से पहले इन द्वीप समूहों में कौन से लोग रहते थे, इसका ठीक पता नहीं है। दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय उपनिवेशों का इतिहास भी अभी बहुत कुछ असम्बद्ध है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्द एशिया में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना किस समय हुई। किन्तु इतना तो निश्चित है कि भारतवर्ष के साथ इन द्वीपों का व्यवसायिक सम्बन्ध बहुत पहले से था। मौर्य-काल अथवा उससे भी पहले भारतवर्ष और इन द्वीपों के बीच व्यापार होता था। रामायण में 'यव द्वीप' (जावा के प्राचीन नाम) का उल्लेख आया है। इतिहासकारों का अनुमान है कि पहली और दूसरी सदियो के बीच इन द्वीप समूहो में भारतीय उपनिवेश कायम हुए होंगे। प्रारम्भ में भारतीय विजेता और व्यापारी छोटे-छोटे गाँवों और बस्तियो में बसे, पर कालान्तर में ये छोटी-छोटी भारतीय बस्तियाँ बड़े-बड़े राज्यों में परिवर्तित हो गयी। ५ वीं सदी के आरम्भ में सुमात्रा में 'कान्तोली' और ७ वीं सदी में जावा में 'कलिंग' नाम के भारतीय राज्यों का विकास हुआ। हिन्द एशिया के भारतीय राज्यों के बीच प्रायः संघर्ष चलता रहा और इस

पारस्परिक संघर्ष का फल यह हुआ कि कोई भी राज्य अधिक दिन तक न टिक सका। दक्षिण पूर्व एशिया में सबसे बड़े शक्तिशाली साम्राज्य का उदय ८ वीं सदी में सुमात्रा में हुआ। इतिहास में इस साम्राज्य का नाम 'श्रीविजय' अथवा 'शैलेन्द्र' है। श्रीविजय की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ी और नवीं सदी में इस साम्राज्य का आधिपत्य प्रायः समस्त हिन्द एशिया, मलाया और सम्भवतः काम्बोज (आधुनिक कम्बोडिया) तक फैल गया। श्रीविजय के शासक बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और इन्होंने अपने समय के उत्तर और दक्षिण भारत के शासकों से निकट सम्पर्क स्थापित कर रखा था। नालन्द और विजगापट्टम में इन्होंने बौद्ध मन्दिर बनवाए। जावा के प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर "बोरो बुदूर" का निर्माण ९ वी सदी में जयवर्मनम द्वितीय के समय में हुआ। दसवीं सदी के आरम्भ में मध्य जावा श्रीविजय से अलग हो गया। इसी बीच दक्षिण-भारत के चोल राजाओं से भी श्रीविजय का संघर्ष छिड़ गया। ११ वीं सदी के आरम्भ में चोल राजाओं ने कई बार श्रीविजय को जीतने का प्रयत्न किया। सन् १०३९ ई० में राजेन्द्रचोल ने श्रीविजय पर चढ़ाई की और चोल सेनाओं ने उसके कई एक भाग पर अधिकार कर लिया। सुमात्रा में चोल आधिपत्य लगभग ५० वर्ष तक रहा। इन पराजयों के बाद श्रीविजय की शान्ति क्षीण होने लगी, पर इसके बाद लगभग आगामी दो शतकों तक श्रीविजय हिन्द एशिया का सबसे बड़ा राज्य बना रहा। सन् १२२० ई० में पूर्वी जावा में "सिगसारी" नाम के एक दूसरे भारतीय राज्य की स्थापना हुई। सन् १२९२ ई० में एक नये नगर की स्थापना के उपलक्ष में सिंगसारी का नाम बदल कर 'महापहित" पड़ा। महापहित के उत्थान के साथ-साथ श्रीविजय का पतन आरम्भ हुआ। लगभग १०० वर्ष के भीतर प्रायः समस्त हिन्द एशिया ने "महापहित" का लोहा मान लिया और सन् १३७७ ई० में महापहित की सेनाओं ने श्री विजय

पर भी आधिपत्य कर लिया। श्रीविजय के बाद महापहित हिन्द एशिया का सबसे अधिक विस्तृत राज्य था। इतिहास कारों ने इसके शासन और सुव्यवस्था की बड़ी प्रशंसा की है।

निरन्तर युद्धों में लगे रहने के कारण महापहित की शक्ति भी क्षीण हो चली और हिन्द एशिया में १४ वीं सदी के बाद एक दूसरी विदेशी शक्ति का आविर्भाव हुआ। यह नई शक्ति अरब व्यवसायिओं और नाविकों की थी, जिन्होंने हिन्द एशिया के आन्तरिक मतभेद का लाभ उठा कर इन द्वीप समूहों में अपना पैर जमा लिया। धीरे-धीरे हिन्द एशिया का सामुद्रिक व्यवसाय इन्हीं अरबों के हाथ में आ गया और उनकी शक्ति बढ़ी। अरबों के उत्थान के साथ हिन्द एशिया में इस्लाम का प्रचार आरम्भ हुआ और इस प्रकार १५ वीं सदी के मध्य में दक्षिण-पूर्व एशिया में एक नये अध्याय का श्री गणेश हुआ। इसी समय महापहित के राजा कृतवर्मा ने चम्पा की एक मुसलिम राजकुमारी से विवाह कर लिया और सम्भवतः वह स्वयं भी मुसलमान हो गये। अन्त में अरबों ने सन् १४७८ ई० में महापहित को अपने आधिपत्य में कर लिया। महापहित की पराजय के बाद जावा और सुमात्रा में इस्लाम धर्म का प्रचार बड़े जोर के साथ आरम्भ हुआ। जावा और सुमात्रा के हिन्दू और बौद्धों ने बाली और आस-पास के द्वीपों में जाकर शरण ली, जहाँ वे आज भी हैं। महापहित हिन्द एशिया का अन्तिम भारतीय साम्राज्य था और उसकी पराजय के बाद से पूर्वी द्वीप समूहों में भारतीय प्रभाव क्रमशः घटने लगा।

योरप निवासियों का आगमन

हिन्द एशिया में अरब भी बहुत दिन तक टिक न सके। सन् १५११ ई० में अलबुकर्क के नेतृत्व में पुर्तगालियों ने हिन्द एशिया में पदार्पण किया और मालुकस द्वीप में उन्होंने

अपना उपनिवेश बसाया। थोड़े ही दिनों के बाद पूर्वी द्वीप समूहों के मसाले का व्यापार पुर्तगालियों के हाथ में आ गया। किन्तु पुर्तगालियों को हिन्द एशिया में अधिक दिन तक रहना बदा न था। सन् १५८० ई० में पुर्तगाल के स्पेन में मिल जाने के बाद हिन्द एशिया में पुर्तगाल का स्थान हालैंड वालों ने ले लिया। सन् १६०२ ई० में डच ईस्ट इंडीज़ कम्पनी की स्थापना हुई। व्यापार में एकाधिपत्य स्थापित कर लेने के बाद डच राजनीतिज्ञों ने हिन्द एशिया की राजनीति में दखल देना आरम्भ किया। देशी राजाओं के पारस्परिक वैमनस्य का लाभ उठा कर डच ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ५० वर्ष के भीतर ही हिन्द एशिया के एक बड़े भू भाग पर अपना अधिकार कर लिया। भारतवर्ष के तत्कालीन इतिहास की पुनरावृत्ति हिन्द एशिया में भी आरम्भ हुई। शोषण और लूट-खसोट की नीति ने कम्पनी को बदनाम कर दिया। देश के आन्तरिक युद्धों में भाग लेने के कारण कम्पनी की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। इसके कर्मचारियों ने वही काम आरम्भ किया जो अंग्रेज़ों ने क्लाइव के समय में बंगाल में किया। अन्त में हालैंड की सरकार ने सन् १७६८ ई० में कम्पनी के पूर्वीय साम्राज्य को अपने हाथ में ले लिया और इस प्रकार सन् १७६८ ई० में हिन्द एशिया डच साम्राज्य का एक अंग बन गया। नेपोलियन की चालों से थोड़े समय के लिये ये द्वीप समूह ब्रिटेन के आधिपत्य में चले गये, परन्तु सन् १८१४ में ये फिर हालैंड को मिल गये।

डच - शासन

डच शासकों ने हिन्द एशिया में प्रायः वैसा ही ढाँचा खड़ा किया है जैसा अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष में किया था। देश का शासन सूत्र डच गवर्नर जनरल के हाथ में रहा है, जो अपने गोरे सलाहकारों की सहायता से शासन का संचालन करता है। इन सलाहकारों

की नियुक्ति हालैंड की सरकार करती है। प्रादेशिक शासन के लिये सारा देश ८ बड़े-बड़े सूबों में बाँट दिया गया। हर प्रान्त का शासक गवर्नर होता है। शासन के किसी भी अंग पर देशवासियों का नियंत्रण नहीं है। सन् १९४६ से पहले कोई व्यवस्थापिका सभा न थी। वर्तमान व्यवस्थापिका में भी निर्वाचित सदस्यों की संख्या सीमित है। भारतवर्ष की तरह हिन्द एशिया में भी कई श्रेणी के देशी राज्य हैं जिनकी संख्या ५०० से अधिक है। कहने को इन देशी राज्यों के शासक वहाँ के सुलतान होते हैं। किन्तु वास्तव में शासन का संचालन डच अफसरों के हाथ में है।

आर्थिक दृष्टिकोण से डच शासन और भी विषैला रहा है।

आरम्भ से ही इन द्वीप समूहों से अधिक से अधिक लाभ उठाना डच शासकों ने अपना प्रमुख ध्येय बना रखा है। विगत २०० वर्षों में उन्होंने देश का भयंकर शोषण किया है। बिहार की नील गाथा की तरह सुमात्रा और जावा में भी डच शासकों ने चाय और काफी के व्यवसाय के लिये किसानों पर प्रतिबन्ध लगाया। एक नियम के अनुसार किसानों को वाध्य किया गया कि वे अपनी ज़मीन के छठवें भाग पर चाय और काफी उपजायें और पूरी उपज सरकार को दे दें। परन्तु किसानों की आर्थिक स्थिति बिगड़ते देख सन् १८४८ ई० में डच सरकार ने इस प्रथा को उठा लिया। आरम्भ से लेकर आज तक हिन्द एशिया का डच शासन पूर्णतया सैनिक शासन रहा है। पिछले २५ वर्षों से तो देश में आर्डिनेन्सों का राज्य रहा है। जनमत का जो तिरस्कार डच शासकों ने हिन्द एशिया में किया है उसका उदाहरण प्रायः अन्यत्र नहीं मिलता। डच ईस्ट इंडीज़ में एक समय यह नियम था कि कोई भी हिन्दएशिया निवासी हैट और बूट नहीं पहन सकता था। परन्तु इस राष्ट्रीय अपमान और शोषण के साथ ही साथ इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि

डच शासकों ने कृषि, व्यवसाय, शिक्षा-प्रसार और स्वास्थ्य सुधार के लिये भी प्रयत्न किया है। इन क्षेत्रों में उन्हे थोड़ी बहुत सफलता भी मिली है। डच शासन से एक लाभ यह भी हुआ है। कि सारा द्वीप समूह एक सूत्र में बँध गया और हिन्द एशिया के लोगों में एकता की भावना उत्पन्न हो गयी। पाश्चात्य शिक्षा और एकता के सहयोग से देश में विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीयता का जो संचार हुआ वह आज भीषण संघर्ष के रूप में हिन्द एशिया में वर्तमान है।

हिन्द एशिया का जन आन्दोलन

हिन्द एशिया का जन-आन्दोलन भारतीय जन-आन्दोलन का समकालीन है और दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों की तरह हिन्द एशिया का जन-आन्दोलन भी बहुत कुछ अंशों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित हुआ है। हिन्द एशिया का राष्ट्रीय आन्दोलन आज से ४० वर्ष पहले जावा में आरम्भ हुआ। यह आन्दोलन केवल राजनैतिक नहीं वरन् सामाजिक भी था। राजनीति के साथ-साथ राष्ट्रीय नेताओं ने शिक्षा और समाज सुधार की ओर भी विशेष ध्यान दिया। आज से २० वर्ष पहले जावा में राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन आरम्भ हुआ और एक नई शिक्षा प्रणाली के आधार पर राष्ट्रीय संस्कृति के विकास पर विशेष ज़ोर दिया गया। इस शिक्षा प्रणाली का नाम "थमन सिस्व" है इसके प्रवर्तक हज़दार देवन्तारो नाम के एक शिक्षा विशेषज्ञ थे। "थमन सिस्व" का अर्थ है "जनता का घर"। ये स्कूल राष्ट्रीय शिक्षा के केन्द्र है, इन स्कूलों में पाश्चात्य विषयों के अतिरिक्त नाचना, गाना भी सिखलाया जाता है। आज इस प्रणाली का हिन्द एशिया में खासा प्रचार है। इस प्रणाली के अनुसार आज हज़ारों स्कूल और शिक्षक बच्चों को शिक्षा दे रहे है। राष्ट्रीय जागृति में इन शिक्षालयों ने पूरा हाथ बटाया है सन् १६४२

में हिन्दएशिया पर जब जापान का आधिपत्य हो गया तो जापानी शासकों ने "थमन सिस्व" प्रणाली के स्कूलों को बन्द कर दिया और हिन्द एशिया के बच्चों को जापानी स्कूलों में शिक्षा देने का आयोजन किया।

शिक्षा के साथ-साथ हिन्द एशिया के राष्ट्रवादियों ने समाज सुधार पर भी बराबर जोर दिया। हिन्द एशिया की सबसे पुरानी राजनैतिक पार्टी "बुधि उत्तोमो" ने समाज-सुधार को अपना प्रधान कार्य-क्षेत्र बना रखा था। राष्ट्रीय आन्दोलन के राजनैतिक मोर्चे पर डाक्टर अब्दुल रहमान सोयकर्नो की राष्ट्रीय पार्टी (Party Nationale Indonesia) ने नेतृत्व किया। राजनैतिक क्षेत्र में राष्ट्रवादियों के बीच एकता का अभाव था। आन्दोलन के प्रारम्भ काल में ही देश में १३ विभिन्न नरम और गरम दल थे। डाक्टर सोयकर्नो ने विभिन्न दलों को मिला कर राष्ट्रीय मोर्चे को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया और इस दिशा में उन्हें सफलता भी मिली। सन् १९२० ई० में भारतवर्ष के प्रथम असहयोग आन्दोलन से प्रभावित होकर हिन्द एशिया में भी असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय नेता पकड़ कर न्यूगिनी भेज दिये गये। सन् १९२७ ई० में कम्यूनिस्ट पार्टी ने डच-शासकों के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा पर डच सरकार ने उसे बुरी तरह से कुचल दिया। उसी वर्ष डाक्टर सोयकर्नो ने अपने नए राष्ट्रीय दल की स्थापना की और सब दलों को साथ लेकर विदेशी शासन के विरुद्ध बृहत जन- आन्दोलन की तैयारी की। वह आन्दो-लन भी दबा दिया गया, पर जनता की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। सन् १९४१ में जब दक्षिण - पूर्व एशिया में युद्ध आरम्भ हुआ तो हिन्द एशिया के राष्ट्रीय नेताओं को एक अच्छा अवसर मिला। सन् १९४२ ई० में जापानी सेनाओं ने हिन्द एशिया पर आधिपत्य कर लिया। डच शासक तो भाग
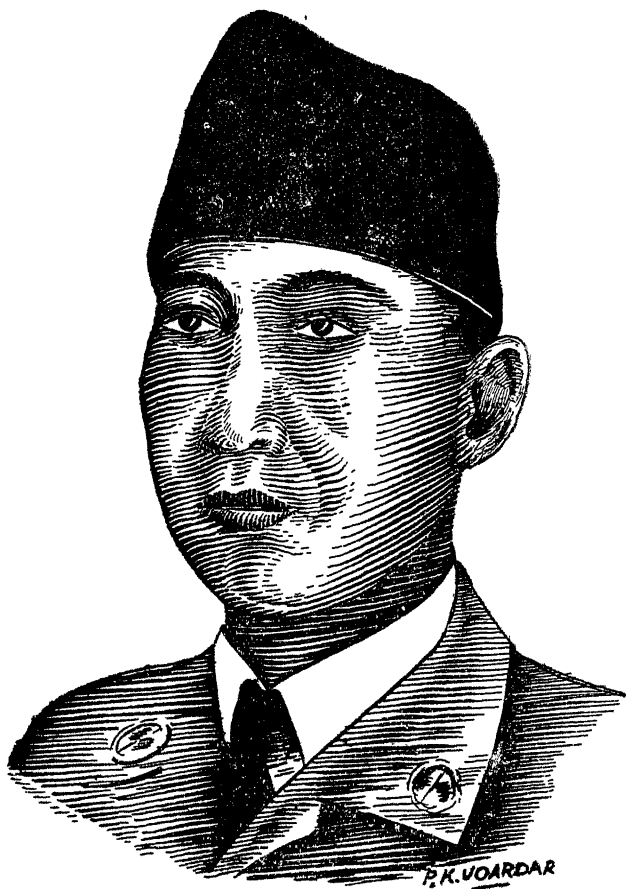
हिन्द-एशिया प्रजातन्त्र के प्रधान, डाक्टर सोयकर्नो

निकले, पर हिन्द एशिया के राष्ट्रवादियों ने जापानियों के आगे घुटना न टेका। जापानी सेनाओं के आने पर डच शासकों ने देश छोड़कर जब आस्ट्रेलिया में शरण ली, उस समय भी हिन्द एशिया के निवासी अपने देश की स्वतंत्रता के लिए जापानियों से लड़ते रहे। डच आधिपत्य की तरह उन्होंने जापानी आधिपत्य का भी विरोध किया। सन् १६४३ ई० में डाक्टर स्वयकर्नो और डाक्टर मुहम्मद हत्ता जापान गये और उन्होंने जापान सरकार से बचन लिया कि युद्ध समाप्त होने पर हिन्द एशिया से जापानी सेनायें हटा ली जायेंगी। सन् १६४५ ई० में राष्ट्रवादियों ने स्वतंत्र हिन्द एशिया की घोषणा की। डाक्टर स्वयकर्नो नये प्रजातंत्र के प्रधान और डाक्टर हत्ता उपप्रधान बने। मंत्रिमंडल में हर दल के प्रतिनिधि रखे गये। धीरे-धीरे देश का शासन सूत्र राष्ट्रीय सरकार के हाथ में आ गया। जावा का प्राचीन नगर "योग्यकर्ता" राष्ट्रीय सरकार की राजधानी बनाया गया। शीघ्र ही एक राष्ट्रीय सेना भी प्रस्तुत हो गई और हिन्द एशिया के लोग अपनी स्वतंत्रता को दृढ़ रखने के लिये तत्पर हो गये। सन् १६४६ ई० में एक राष्ट्रीय कन्वेन्शन बुलाया गया, जिसने हिन्द एशिया को स्वतंत्र घोषित किया और संयुक्त राष्ट्र सङ्घ से सदस्यता की माँग की।

परन्तु हिन्द एशिया की कठिनाइयों का अन्त अभी न था। ज्यों ही जापान के आत्म समर्पण की घोषणा हुई, हिन्द एशिया से भागे हुये डच शासक अंग्रेजी सेना के बल पर इस देश पर अपना पुनः आधिपत्य जमाने के लिये आ पहुँचे। अपने साम्राज्य की रक्षा के लिये विह्वल डच शासक देश की स्थिति देखकर पागल हो उठे। उन्होंने सैनिक शक्ति के बल पर हिन्द एशिया को अपने अधिकार में रखने का निश्चय किया। अतएव अपने देश की स्वतंत्रता की हिमायती राष्ट्रीय सरकार से उनका सङ्घर्ष

अनिवार्य सा हो गया। विगत तीन वर्षों से राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद के बीच हिन्द एशिया में भयंकर सङ्घर्ष चल रहा है। इन तीन वर्षों में डच सेनाओं ने हिन्द एशिया में जो कुछ किया है उसकी तुलना प्रायः जर्मनी के "बेल्सन कैम्प" से की जाती है। आज इस सङ्घर्ष का फल यह है कि हिन्द एशिया में दो समानान्तर शासन चल रहे हैं। एक हिन्द एशिया की राष्ट्रीय सरकार और डच सरकार। डच सरकार की राजधानी बटेविया और राष्ट्रीय सरकार की राजधानी योग्यकर्ता है। पिछले वर्षों में कई बार समझौते का प्रयत्न किया गया है पर साम्राज्यवादियों और राष्ट्रवादियों के बीच इतने गहरे मतभेद हैं कि अब तक किसी प्रकार का समझौता नहीं हो पाया है। समझौता न होने के कारण मौजूद हैं। डच शासक किसी न किसी प्रकार हिन्द एशिया को अपने हाथ में रखना चाहते हैं उन्होंने कभी भी पूर्वी द्वीप समूह को छोड़ कर चले जाने की बात स्वीकार नहीं किया और हिन्द एशिया को वे छोड़ें तो कैसे ? हिन्द एशिया तो हालैंड की आर्थिक रीढ़ है। डचों ने इसे अपना उपनिवेश बना रखा है और एक बहुत बड़ी संख्या में आकर यहाँ बस गये हैं। हालैंड का हर पाँचवाँ आदमी अपनी रोटी के लिये हिन्द एशिया पर निर्भर रहता है। हिन्द एशिया के निकल जाने पर हालैंड दिवा-लिया और अकिंचन हो जायगा। यही कारण है कि डच शासक जी जान से अपने पूर्वी साम्राज्य की रक्षा में लगे हुये हैं और सैनिक शक्ति के बल पर जनता की इच्छा के विरुद्ध वहाँ राज्य करना चाहते हैं। हिन्द एशिया के राष्ट्र वादियों को केवल अपने बाहुबल का सहारा है, साम्राज्यवादियों का गुट्ट बहुत बड़ा और भयंकर है। ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस सभी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से डच पक्ष का समर्थन करते आये हैं। इतना ही नहीं अमेरिका ने हालैंड को आर्थिक सहायता

और ब्रिटेन ने आरम्भ में सैनिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया है।

सन् १९४६ से लेकर आज तक हिन्द एशिया में घटना-चक्र किस दिशा में घूमता रहा है, इसका थोड़े में उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है। प्रारम्भिक संघर्ष के बाद २५ मार्च सन् १९४७ में डच-सरकार और प्रजातंत्र के बीच एक समझौता हुआ जो लिंग जाती समझौता के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते के अनुसार डच सरकार ने सुमात्रा, जावा और मदुरा में प्रजातंत्र की सत्ता को स्वीकार किया। किन्तु साथ ही डच शासकों ने हिंद एशिया में फूट डालना भी आरम्भ किया। 'पूर्वी हिन्द एशिया' और बोर्नियों में विभिन्न नामों की कई कठपुतली सरकारें बनाई गईं और लिंग जाती समझौते के ४ ही महीने बाद डच सरकार ने प्रजातंत्र को कुचलने के लिए सैनिक कारवाई आरम्भ कर दी। जावा और सुमात्रा में युद्ध की ज्वाला पुनः भभक उठी। इसी बीच भारतवर्ष और आस्ट्रेलिया ने हिन्द एशिया के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा समिति में रखा और हिन्द एशिया में सैनिक कारवाई रोकने के लिए हस्तक्षेप करने का अनुरोध किया। सुरक्षा समिति ने स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए दोनों पक्षों को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया और एक सद्भावना समिति बनाकर हिन्द एशिया भेजा। सद्भावना समिति के प्रयत्नों के फलस्वरूप १७ जून सन् १९४८ को दोनों पक्षों ने कुछ मोटे सिद्धांतों के आधार पर एक समझौता किया जो 'रेनबील' समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। युद्ध स्थगित हुआ और डच रानी के संरक्षण में संयुक्त हिन्द एशिया संघ बनाने की घोषणा की गई। प्रजातंत्र सरकार ने भी इस संघ में मिलना स्वीकार किया। इसी समझौते की शर्त के अनुसार जावा, सुमात्रा और मदुरा के कुछ भागों से प्रजातंत्र सरकार की सेनाएँ हटा ली गईं। डच-शासकों ने 'रेनबील' समझौते का अनु-

चित लाभ उठाया। प्रजातंत्र सेनाओं के हटते ही डच सैनिकों ने पूरे मथुरा पर अधिकार कर लिया और देश में फूट डालने की नीयत से डच-संरक्षण में जावा और सुमात्रा में कठपुतली सरकारों की स्थापना की गई। इतना ही नहीं, अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ा कर डच शासकों ने हिन्द एशिया के घर को सुदृढ़ कर लिया। यद्यपि 'रेनवील' समझौते के अनुसार प्रजातंत्र के लोग प्रस्तावित संघ-योजना से सहयोग करने को तैयार थे, किन्तु उनके सहयोग के बिना ही मार्च सन् १९४८ में एक अस्थायी संघ-सरकार की घोषणा की गई। संघ सरकार की स्थापना कर डच शासकों ने संसार को यह दिखलाना चाहा कि प्रजातंत्र में सहयोग के बिना भी वे हिन्द एशिया में अपनी योजना कार्यान्वित कर सकते है। किन्तु उनका अन्दाजा गलत निकला। अस्थायी संघ की स्थापना के साथ ही सारे देश में संघर्ष की ज्वाला भभक उठी और समझौते का मार्ग अवरुद्ध हो गया। जुलाई सन् १९४८ में संयुक्त राष्ट्र की सद्भावना समिति ने सुरक्षा समिति को सूचित किया कि हिन्द एशिया में दोनों पक्षों के बीच मतभेद इतने गहरे है कि कोई भी पक्ष समझौते की किसी भी बात पर राज़ी नहीं हो रहा है। समझौते में मुख्य तीन अड़चने है जिनमें से मूल अड़चन प्रजातंत्र की स्थिति है। डच शासक प्रजातंत्र सरकार की मान्यता को स्वीकार नहीं करते। दूसरी अड़चन मत गणना के सम्बन्ध में है। रेनबील समझौते में मत गणना की बात को दोनों पक्षों ने स्वीकार किया था। किन्तु अन्तर यह है कि प्रजातंत्र के लोग केवल उसी भाग में मत गणना चाहते हैं जो प्रजातंत्र सरकार के नियंत्रण में नहीं है। डच-शासक पूरे हिन्द एशिया में मतगणना चाहते है। तीसरा मत भेद अन्तःकालीन अधिकारों के प्रश्न पर है। प्रजातंत्रवादी अन्तःकालीन सरकार को शासन-सम्बन्धी व्यापक अधिकार दिये जाने के पक्ष में है। विशेष रूप से वे सेना को

इसके नियंत्रण में रखना चाहते है। इसके विरुद्ध डच शासक सेना पर से अपना नियंत्रण हटाने को तैयार नहीं है।

संघर्ष की सामग्री तो पहले ही इकट्ठा हो चुकी थी। ११ नवम्बर सन् १६४८ को डच-सेनाओं ने एकाएक प्रजातंत्र पर चढ़ाई कर दिया। डच-आक्रमण के साथ पूरे द्वीप-पुन्ज में युद्ध छिड़ गया। प्रजातंत्र सरकार के मंत्री और दूसरे नेता पकड़ कर जेलों में डाल दिये गये। यद्यपि डच-सैनिक शक्ति के मुकाबले में प्रजातंत्र की शक्ति कम है, फिर भी पिछले तीन महीनों से हिन्द एशिया में प्राय: सर्वत्र युद्ध चल रहा है। युद्ध छिड़ने के कुछ ही दिन बाद सुरक्षा समिति ने डच सरकार को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया और हिन्द एशिया के प्रश्न को सुलझाने के लिये कई प्रस्ताव रखे, किन्तु समिति के आदेशों और प्रस्तावों का डच शासकों पर अभी तक कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। डच साम्राज्यवादियों के इस कार्य से समस्त एशिया में क्षोभ है। विगत दिल्ली सम्मेलन में एशिया के राष्ट्रों ने हिन्द एशिया के प्रति जो उद्गार प्रकट किये उनसे यह स्पष्ट है कि जागृत एशिया साम्राज्यवाद को अब किसी भी अंश में सहन नहीं कर सकता। एशिया की इस आवाज़ का प्रभाव निश्चित है और उस प्रभाव के लक्षण अभी भी दिखलाई पड़ रहे हैं। विगत २६ फरवरी को डच-सरकार ने घोषणा की है कि प्रजातंत्र के नेता छोड़े जायेंगे और हिन्द एशिया में एक गोलमेज कान्फरेन्स बुलाई जायगी। इस गोलमेज वार्ता और दूसरी वार्ताओं का क्या फल होगा यह तो भविष्य ही बतलाएगा। किन्तु इतना निश्चित है कि प्रजातंत्र के सहयोग के बिना हिन्द एशिया का प्रश्न स्थायी रूप से सुलझाया नहीं जा सकता।

सामाजिक और आर्थिक स्थिति

भौगोलिक स्थिति के कारण हिन्द एशिया के प्राय: हर द्वीप

की रहन-सहन और भाषा में कुछ न कुछ विभिन्नता है। प्रायः हर जत्थे की अपनी अलग-अलग बोलियां और रीति-रिवाज है। किन्तु हिन्द एशिया में अधिकांश लोग "मलाया" बोलते है। "मलाया" हिन्द एशिया की राष्ट्र भाषा बन चली है। "मलाया" आज अरबी लिपि में लिखी जाती है, इसमें चीनी, हिन्दुस्तानी, तामिल, अरबी, अंग्रेजी और डच भाषाओं के शब्द पर्याप्त संख्या में पाये जाते है। एक समय था जब मलाया दक्षिण भारत की किसी लिपि से मिलती जुलती लिपि में लिखी जाती थी, परन्तु १५ वीं सदी में इस्लाम धर्म के प्रचार के साथ अरबी लिपि का प्रयोग होने लगा। बाली और लम्बक में एक दूसरी लिपि का प्रयोग होता है।

हिन्द एशिया कृषि प्रधान देश है। लगभग ८० प्रतिशत लोग गाँवों में रहते है, जिन्हे हिन्द एशिया की भाषा में "देस" कहते है। हमारे गाँवों की तरह "देस" हिन्द एशिया के सामाजिक-जीवन की एक छोटी एकाई है। हिन्द एशिया के ग्राम्य जीवन मे अभी भी बहुत कुछ प्राचीन भारत के ग्राम्य जीवन की झलक दिखाई पड़ती है। प्राचीन काल से ही "देस" का शासन संगठित रूप से चालू है और ग्राम्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर ग्राम्य पंचायत का नियंत्रण है। पंचायत के कर्मचारी, मंत्री, खजाञ्ची, पुरोहित और प्रधान, सब मिल कर गाँव के खेत, मछली का तालाब, पशु, स्कूल की देख-रेख करते है। गाँव की रखवाली, खेतों की सिंचाई आदि काम भी पंचायत के नियंत्रण में होते है। पंचायतों की देख रेख रीजेन्ट नामक कर्मचारी करता है, जिसका बहुत कुछ काम हमारे ग्राम पंचायत अफसर की तरह है। जावा में ग्राम पंचायतों का कार्य अधिक संगठित और विस्तृत है।

दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों की तरह हिन्द एशिया में भी जाति-पांति का भेद भाव नहीं है। एक जाति का दूसरी जाति

के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध चलता है। इन द्वीप समूहों में रहने वाले हिन्दू और मुसलमान भी आपस में रोटी-बेटी का सम्बन्ध रखते है और धार्मिक विभिन्नता के होते हुये भी उनके बीच किसी प्रकार की कटुता नहीं है। हिन्द एशिया प्रजातंत्र के प्रधान डाक्टर अब्दुर्रहमान सोयकर्नो स्वयं इस हिन्दू-मुसलिम ऐक्य के उदाहरण है। डाक्टर सोयकर्नो की माता बाली की एक हिन्दू महिला और उनके पिता जावा के एक मुसलमान थे। १५ वीं सदी से पहले हिन्द एशिया के निवासी हिन्दू और बौद्ध थे, १५वीं सदी में उनमें से अधिकांश मुसलमान हो गये। परन्तु धर्म-परिवर्तन से उनके रहन-सहन में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है। यही कारण है कि आज भी उनका रहन-सहन और रीति-रिवाज में हिन्दूपन पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है।

बाली के हिन्दू

बाली और लम्बक के हिन्दू आज भी अपनी प्राचीन परम्पराओं को किसी न किसी अंश में बनाये हुये है। बाली में पाश्चात्य प्रभाव अभी तक नहीं के बराबर है। प्राचीन भारतवर्ष के आर्यों की तरह बाली के हिन्दू, ब्राह्मण देव, (क्षत्रिय) वैश्य और शूद्र चार वर्णों में विभक्त हैं। परन्तु उनमें ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं है, और एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण के लोगों से विवाहादि सम्बन्ध रखते हैं। बाली-निवासी बड़े धार्मिक वृत्ति के हैं। हर एक गाँव में अनिवार्यतः एक देव मन्दिर देखने में आता है। बाली की राजधानी 'सिंघराज' में एक बरुण का मन्दिर है। सिंघराज के निकट ही "संसिद्ध" अथवा "देवी श्री" नाम का एक दूसरा मन्दिर है जो बाली का सब से प्रसिद्ध मन्दिर कहा जाता है। इस मन्दिर में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की मूर्तियां स्थापित हैं। बाली में तेरह मंजिलों तक के मन्दिर वर्तमान हैं। इन ऊँचे मन्दिरों को "मेरु" की

संज्ञा दी गयी है। त्योहारों के दिन बड़े सज-धज के साथ इन मन्दिरों में नाच-गाने होते हैं। बाली निवासी नाद विद्या के बड़े प्रेमी हैं। उनका मन्दिर नाच बहुत प्रसिद्ध है। वे अपने नाच और नाटकों के सामने सिनेमा आदि कुछ भी पसन्द नहीं करते। शिक्षा के अभाव के कारण बाली के लोग भूत-प्रेतों और तरह-तरह के देवी-देवताओं में विश्वास करते हैं। द्वीप का प्रसिद्ध ज्वालामुखी पर्वत "भूतों" का निवास स्थान समझा जाता है। बाली के लोग अपने मृतकों को भारतवर्ष के हिन्दुओं की तरह जलाते हैं और उनका विश्वास है कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा "इन्द्रलोक" में जाती है।

बाली के हिन्दू संस्कृत भाषा को भूल गये हैं, परन्तु वे अब भी संस्कृत के श्लोक और मंत्र जपते हैं। बाली के मंदिरों में केले के पत्तों पर लिखी हुई संस्कृत की पुस्तकें देखने में आती हैं। बाली-निवासी, यमुना, गंगा और सरस्वती के श्लोकों को आज भी गाते हैं। "वंग द्वारे प्रयागे च गंगा सागर संगमे" का श्लोक वे स्नान के समय कहते हैं।

विदेशी यात्रियों ने बाली-निवासियों की रहन सहन की बड़ी प्रशंसा की है। उनके यहाँ घरों में ताला लगाने की प्रथा नहीं है। कहा जाता है कि बाली में चोर नहीं होते। हमारे देश की तरह वहां आर्थिक विषमता भी नहीं है। वहां न तो कोई बहुत धनवान है और न कोई बहुत ग़रीब। किसान, मछुये और मज़दूर सब अपनी जीविका आसानी से कमा लेते हैं। बाली को स्त्रियों का देश कहा गया है, इसका कारण यह है कि वहां की जन संख्या में लगभग ७० प्रतिशत स्त्रियां हैं। बाली में लड़कियों का विवाह छोटी अवस्था ही में कर दिया जाता है और उनको आरम्भ से ही आदर्श पत्नी और माता की शिक्षा दी जाती है।

आर्थिक स्थिति

प्रकृति ने हिन्द एशिया को सम्पन्न देश बनाया है। पर विदेशियों ने उसे बुरी तरह से चूस डाला है। जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्द एशिया की भूमि बड़ी उपजाऊ है, पर उसकी अधिकांश भूमि विदेशियों को, विशेषतः डचों को पट्टे पर दे दी गयी है। मूल-निवासियों को धान की खेती और मछली मारने के लिये थोड़ी-बहुत भूमि मिली है। युद्ध से पूर्व तो मूल निवासियों से केवल मज़दूरों का काम लिया जाता था। व्यवसाय की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। देश का अधिकांश व्यवसाय विदेशियों के साथ में है। विभिन्न व्यवसायों में लगाई हुई पूंजी भी प्रायः विदेशियों की है, जिसमें से हालैंड की पूंजी प्रायः तीन चौथाई है। इस भयंकर शोषण ने देश की आर्थिक स्थिति को बिगाड़ डाला है। जावा और सुमात्रा के किसानों की स्थिति हमारे देश के किसानों की स्थिति से अच्छी नहीं कही जा सकती। शहरों से दूर बीमारियों से बचने का कोई ठीक प्रबन्ध नहीं है। महामारियों में हज़ारों की संख्या मे लोग मर जाते हैं। विदेशी सरकार ने उनके लिये कोई समुचित प्रबन्ध नहीं किया है। हिन्द एशिया के ६० प्रतिशत लोग किसान और तीस प्रतिशत मज़दूर हैं जो योरोपियन कम्पनियों मे काम करते हैं। ५ प्रतिशत लोग व्यवसाय में और तीन प्रतिशत गड़रिये, शिकारी और मछुये हैं। नौकरी पेशा वाले एक प्रतिशत से अधिक नहीं है।

भारतवर्ष और हिन्द एशिया

हिन्द एशिया की सभ्यता और संस्कृति प्रधानतः भारतवर्ष और चीन की देन है। इन दोनों देशों का इन द्वीप समूहों पर गहरा और अमिट प्रभाव पड़ा है, पर भारतवर्ष के प्रभाव की तुलना में चीन का प्रभाव नगण्य सा है। हिन्द एशिया और भारतवर्ष

का सांस्कृतिक और व्यवसायिक आदान-प्रदान लगभग १५ सौ वर्षों का है। पहली सदी से लेकर १५ वीं सदी के आरम्भ तक हमारा सम्बन्ध किसी न किसी रूप में बना रहा। इस काल में पूर्वी द्वीप-समूहों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की प्रधानता रही। परन्तु 'महापहित' की पराजय के बाद भारतीय प्रभाव क्षीण होने लगा और कुछ ही समय के बाद हिन्द एशिया और भारतवर्ष एक दूसरे से प्राय पृथक से हो गये। किन्तु आज घटना-चक्र ने फिर करवट बदली है और भारतवर्ष और हिन्द एशिया पुन अपनी प्राचीन निकटता को पहचानने लगे है।

हिन्द एशिया के जन-आन्दोलन से भारतवासियों को सदैव सहानुभूति रही है और हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने समय-समय पर हिन्द एशिया में डच-आधिपत्य का विरोध किया है। सन् १९४६ में ब्रिटिश सरकार द्वारा हिन्द एशिया में भारतीय सेनाओं के प्रयोग का समस्त भारत ने विरोध किया और ब्रिटिश सरकार को हिन्द एशिया से भारतीय सेना हटा लेने पर बाध्य किया। जुलाई सन् १९४७ में सुरक्षा-समिति में भारतीय प्रतिनिधि ने हिन्द एशिया का प्रश्न उठाया और डच-सैनिक कार्रवाइयों की निन्दा की। अभी विगत जून में उटकमन्ड में एशियाई और सुदूर पूर्व आर्थिक कमीशन की बैठक में भारतीय प्रतिनिधियों ने हिन्द एशिया प्रजातंत्र के पृथक प्रतिनिधित्व की मॉग का समर्थन किया। विगत दिसम्बर में डच-सेनाओं ने जब प्रजातंत्र पर आक्रमण किया तो भारतवर्ष पहला देश था जिसने डच सरकार के इस निन्दनीय कार्य का सक्रिय विरोध किया। दिल्ली में हिन्द एशिया सम्मेलन बुलाकर भारतवर्ष ने प्रजातंत्र के प्रति गहरी सहानुभूति का परिचय दिया और हिन्द एशिया के प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व देकर उसके पक्ष को सुदृढ़ किया। आश्चर्य की बात नहीं, दिल्ली सम्मेलन हिन्द एशिया के घटना-चक्र को बदल दे और इसी की

पृष्ठ भूमि में हिन्द एशिया में एक नए अध्याय का श्री गणेश हो। आज समस्त एशिया इन पूर्वी द्वीप समूहों के संघर्ष को सहानुभूति के साथ देख रहा है और जिस दिन ये द्वीप समूह साम्राज्यवाद के चंगुल से छुटकारा पायेंगे वह दिन भारतवर्ष और सारे एशिया के लिये आनन्द और गर्व का दिन होगा।

श्याम अथवा थाई देश.

भौगोलिक स्थिति

मलाया प्रायद्वीप के मध्यवर्ती भाग में स्थित श्याम अथवा थाई देश दक्षिण पूर्व एशिया का एक मात्र देश है जिसने कभी भी पाश्चात्य आधिपत्य स्वीकार नहीं किया है। उत्तर और पूर्व में हिन्द चीन, पश्चिम में बर्मा और मलाया, और दक्षिण में चीन सागर से घिरा हुआ थाई देश हरी भरी पर्वत श्रेणियों और सुरम्य घाटियों का एक सुन्दर देश है। यहां का जलवायु मलाया के जलवायु की तरह है। वर्ष के अधिकांश महीनों में यहां बारिश होती रहती है। श्याम का क्षेत्रफल इंगलैंड के क्षेत्रफल के बराबर है और जनसंख्या लगभग डेढ़ करोड़ है। एशिया के अन्य राष्ट्रों की तरह श्याम भी कृषि प्रधान देश है। चावल यहां की मुख्य उपज और लोगों का प्रधान भोजन है। देश के दक्षिणी भाग में रबर और टिन का व्यवसाय होता है।

निवासी

श्याम की डेढ़ करोड़ जनसंख्या में लगभग १ करोड़ २० लाख थाई जाति के लोग है और ये बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। थाई जाति के नाम पर ही अभी कुछ वर्ष पहले इस देश का नाम थाई देश पड़ा। श्याम की शेष ३० लाख जनसंख्या में से लगभग ६ लाख चीनी और शेष मलाया जाति के लोग हैं। इस तीन बड़े जत्थों के अतिरिक्त श्याम की राजधानी में जापानी, हिन्दुस्तानी, अंग्रेज, फ्राँसीसी और अमेरिकन भी थोड़ी बहुत संख्या में पाये जाते है। थाई जाति का आदि निवास स्थान चीन

बतलाया जाता है। सातवीं और आठवीं शताब्दियों में चीन के यनन प्रान्त में थाइयों के एक राज्य का भी प्रमाण मिलता है। मंगोल हमलों से ऊब कर थाई जत्थे अपना आदि निवास स्थान छोड़ कर दक्षिण की और बढ़े और धीरे धीरे दक्षिण पूर्व एशिया के विभिन्न भागों में बस गये। चीन में इनकी शक्ति क्रमशः क्षीण होने लगी और तेरहवीं सदी में चीन के मंगोल बादशाह कुबलाईख ने चीन स्थित थाई राज्य को सदा के लिये नष्ट कर डाला। थाई जत्थे जिस समय श्यान में पहुंचे उस समय श्याम में दक्षिणी वर्मा की मोन जाति के लोगों का आधिपत्य था। मोन आधिपत्य के बाद श्याम खेमर अथवा काम्बोल जाति के लोगों का आधिपत्य हुआ और १२ वीं सदी तक श्याम काम्बोल के आधिपत्य में रहा। तेरहवी सदी के आरम्भ में थाई सरदारों ने काम्बोल की सेनाओं को परास्त कर श्याम में थाई राज्य की नींव डाली।

संक्षिप्त इतिहास

थाई आधिपत्य के समय से थाई देश का क्रमबद्ध इतिहास आरम्भ होता है। सन् १२१८ ई० में थाई सरदारों ने मध्य श्याम में सुखोथाई (सुखोदय) राज्य की स्थापना की। श्री इन्द्रदित्य अथवा श्री महाधर्मराजाधिराज इस वंश का पहला शासक था। इन्द्रदित्य के बाद इस बंश में पाँच राजा हुये, जिनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) वानमुरन (२) रामखेम हंस अथवा रामराजा (३) फ्रम सुअथाई (४) फ्रयरिदयराज (हृदयराज) (५) श्री सूर्यवंश राम महाधार्मिक राजाधिराज।

रामखेमहंस इस वंश का प्रतापी राजा हुआ। इसके शासन-काल में थाई आधिपत्य पूरे श्याम और दक्षिण वर्मा तक फैल गया। किन्तु रामखेमहंग की मृत्यु के बाद सुखोथाई राज्य क

ह्रास आरम्भ हो गया और सन् १३५४ ई० में कुछ थाई सरदारों ने एक दूसरे राज्य की स्थापना की। रामथाई बोढ़ी इस वंश का शासक हुआ। बंकाक से ४५ मील की दूरी पर अयुधिया (अयोध्या) इस राज्य की राजधानी बनी। अयुधिया की स्थापना के समय से श्याम के आधुनिक इतिहास का आरम्भ होता है। क्रमशः अयुधिया की शक्ति बढ़ी और कुछ ही वर्षों के भीतर श्याम की दूसरी छोटी मोटी रियासतें अयुधिया के अधीन हो गयीं। १५ वीं सदी के प्रारम्भ के खेमर और काम्बोज ने भी अयुधिया का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और इस प्रकार १५ वीं सदी में अयुधिया दक्षिण-पूर्व एशिया का एक शक्तिशाली राज्य बन गया। किन्तु श्याम के शासकों को कभी भी शान्ति न मिली। १५ वी और १८ वीं सदियों में श्याम और वर्मा के बीच बराबर संघर्ष चलता रहा। दो बार श्याम वर्मी राजाओं के अधीन भी हो गया; किन्तु दोनों बार थाई सरदारों ने श्याम को बर्मियों के चंगुल से छुड़ाया और मातृभूमि की भी रक्षा की। वर्मा के साथ संघर्ष के कारण अयुधिया की शक्ति क्षीण हो गया और सन् १७८२ ई० में बैंकाक में एक नये राज्य की स्थापना हुई। यही राज्य वंश आज भी श्याम में शासन कर रहा है।

योरप निवासियों का आगमन

श्याम में आने वाले योरप निवासियों में से सर्व प्रथम पुर्तगाल के लोग थे। १६ वीं सदी के आरम्भ में पुर्तगालियों ने श्याम के साथ व्यवसायिक सम्बन्ध स्थापित किया। १०० वर्ष बाद अंग्रेज़, डच और फ्रांसीसी भी व्यापार के उद्देश्य से श्याम में आये। श्याम की राजधानी अयुथिया में इन पाश्चात्य व्यापारियों ने फैक्ट्रियों का बनाना आरम्भ किया। फ्रेंच पादरियों के षड़यंत्र से श्याम की राजधानी में फ्रांसीसियों का प्रभाव बढ़ा और फ्रांस श्याम के बीच राजदूतों का भी आदान प्रदान हुआ। फ्रेंच राज

दूतावास में फ्रेंच सिपाहियों की संख्या बढ़ते देख थाई सरदारों को फ्रांसीसियों के नियत पर सन्देह हो गया। फ्रेंच जनरल गिरफ्तार हुआ और मार डाला गया। फ्रांसीसी फौजें भी निकाल दी गयीं। इस कांड के बाद प्रायः डेड़ सौ वर्ष तक श्याम में योरप वालों की दाल न गल सकी और श्याम से उनका सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया। सन् १८५५ में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ और उसी वर्ष श्याम के राजा ने इंगलैंड के साथ व्यवसायिक संधि की। श्याम की राजधानी में अंग्रेज़ राजदूत रहने लगा और पाश्चात्य प्रभाव देश में पुनः आरम्भ हो गया। थोड़े दिन के बाद अन्य योरोपीय राष्ट्र अमेरिका और सन् १८६८ में जापान की भी श्याम से व्यवसायिक संधियां हुई। इसी समय में श्याम का विदेशों से आदान-प्रदान आरम्भ हुआ और बीसवीं सदी के पदार्पण करते ही श्याम व्यवसायिक संसार का एक प्रमुख केन्द्र बन गया।

शासन व्यवस्था

सन् १९३२ के पहले श्याम का शासन प्रबन्ध व्यक्तिगत रूप से वहां के राजा और उसके मंत्रियों के हाथ में था। श्याम का शासन स्वेच्छाचारी होता था और विधान में उसके शासन सम्बन्धी अधिकारों पर कोई रोक न थी। सेना और शासन के प्रत्येक अंग पर उसका एकाधिकार था। किन्तु धर्म के मामलों में वह मनमाना हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। सन् १९३२ में श्याम के शिक्षित वर्ग में राजा के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध आवाज़ उठी और वैधानिक क्रान्ति उत्पन्न हो गयी। सेना और नौसेना के कतिपय अफसरों ने भी जनता का साथ दिया। जनमत का विरोध करने की क्षमता न देख श्याम के तत्कालीन राजा जनता की इच्छाओं के अनुसार एक नये विधान की घोषणा की। इस विधान के अनुसार श्याम की शासन व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन हुये और देश में लोकतंत्रीय शासन का श्रीगणेश

हुआ। सन् १६३२ के विधान में श्याम का शासन-व्यवस्था का ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के ढाँचे में ले जाने का प्रयत्न किया गया। राजा के सारे अधिकार जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में आ गये और सन् १६३२ के बाद उसकी वैधानिक स्थिति बहुत कुछ वैसा ही हो गयी जैसी इंगलैंड के विधान के सम्राट की है। शासन के किसी अंग में भी राजा अब जनता के प्रतिनिधियों की इच्छा के विरुद्ध दखल नहीं दे सकता। इस क्रान्ति के बाद जो विधान बना उसकी मुख्य-मुख्य बातें ये हैं। कानून बनाने और शासन पर निरीक्षण रखने के लिये एक धारा सभा का निर्माण हुआ। इस धारा सभा के अधिकांश सदस्य जनता द्वारा चुने जाते हैं। शासन एक मंत्रिमंडल को सौंपा गया। प्रधान मंत्री मंत्रिमंडल का बनाया गया। मंत्रियों की संख्या १४ से २४ तक गयी और विधान में इस बात का उल्लेख किया गया कि प्रधान मंत्री और मंत्रिमंडल के कम से कम १४ सदस्य धारा सभा के सदस्य होंगे। मंत्रिमंडल अपनी नीति और कार्यों के लिये धारा सभा पर उत्तरदायी बनाया गया। सन् १६३२ के क्रान्ति के बाद श्याम में शासन-सम्बन्धी अनेक प्रकार के सुधार हुये और स्वायत्त शासन का पुनोद्धार किया गया। श्याम की इस क्राति का श्रेय श्याम के शिक्षित वर्ग को है. जिसने अपने दो नेता मार्शल पिबुल संग्राम और लुआंग प्रादित के नेतृत्व में श्याम में एक नया जीवन पैदा किया। मार्शल पिबुल संग्राम और लुआंग प्रादित श्याम के वैधानिक परिबर्तन के रीढ़ है। कुछ दिन तक तो इन दो नेताओं ने साथ मिल कर काम किया और सन् १६ ३ की सामन्तों की प्रतिक्रान्ति को दबाया। इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि आज का श्याम बहुत अंशों में इन्हीं दो नेताओ और सुधारकों के परिश्रम का फल है। किन्तु कुछ दिन बाद इन दो नेताओं में नीति सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न होगया और विगत

युद्ध के समय दोनों दो विपरीत दलों में दिखाई पड़े। युद्ध में पिबुल ने जापानियों का साथ दिया और सन् १९४५ में जापान की पराजय के बाद उन पर फासिस्ट होने का अभियोग लगाया गया जिसके फलस्वरूप मार्शल पिबुल सन् १९४७ के बाद तक कारागार में थे। जापान की पराजय के समय से सन् १९४७ तक श्याम के शासन की बागडोर प्रादित के हाथ में रही और प्रादित श्याम के सर्वश्रेष्ठ नेता और श्याम के नाबालिग राजा दिवंगत आनन्द महिदल के रीजेन्ट थे।

आर्थिक स्थिति

यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से श्याम कभी भी परतंत्र देश नहीं रहा है, फिर भी जन-क्रान्ति के समय तक श्याम आर्थिक और व्यवसायिक दृष्टिकोण से स्वतंत्र देश नहीं कहा जा सकता था। इसका कारण यह है कि विपुल और प्रादित के सुधारों के पहले श्याम का व्यवसायिक और आर्थिक जीवन विदेशियों के नियंत्रण में था। १९ वीं सदी में विदेशी राष्ट्रों से श्याम की जो संधियां हुई थीं उनसे विदेशियों ने अनुचित लाभ उठाया। श्याम में व्यापार करने, बैंक खोलने, माल ले जाने और ले आने की उनको पूरी आजादी थी। इतना ही नहीं, इन संधियों के अनुसार विदेशियों ने श्याम में अपने-अपने अधिकार क्षेत्र भी बना लिये थे, जिन पर श्याम की सरकार का कोई नियंत्रण न था। इस प्रकार अपने ही हाथों श्याम के राजाओं ने देश के व्यापार और आर्थिक जीवन को विदेशियों के हाथ बेच रखा था। सुधारों से पहले श्याम का अधिकांश वैदेशिक व्यापार ब्रिटेन, अमेरिका जापान और हालैंड के हाथ में था। श्याम के तेल, टिन, रबर, धान और तम्बाकू की तिजारत देश के बड़े बड़े शहरों में बसे हुये चीनी व्यापारियों के हाथ में थी। जागृत श्याम—पिबुल और प्रादित का श्याम—देश के इस आर्थिक शोषण को कभी भी सहन

नहीं कर सकता था। श्यामी राष्ट्रवादियों ने विदेशी सत्ता का अन्त करने का निश्चय किया। विदेशों से जो संधियाँ हुई थीं उनकी व्यापार सम्बन्धी शर्तों में परिवर्तन किए गए और श्याम की सरकार ने आयात और निर्यात पर अपनी इच्छानुसार नियंत्रण रखने का अधिकार अपने हाथ में लिया। कृषि-सम्बन्धी सुधार की योजनाएं बनायी गयी और श्याम में उत्पन्न लोहा, कोयला, टिन, मैंगनीज और लकड़ी के व्यवसाय को श्यामी सरकार ने अपने नियंत्रण में लिया। पुविल और प्रादित ने देश को आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बनाने और विदेशी सत्ता को कम करने का पूरा प्रयत्न किया और ये अपने उद्देश्य में पूर्णतया सफल रहे। विदेशियों के अधिकार-क्षेत्र समाप्त हुए और देश का व्यवसाय क्रमशः श्यामी सरकार के नियंत्रण में आ गया।

शिक्षा, धर्म और सामाजिक जीवन

सन् १९३२ की वैधानिक क्रान्ति के बाद से श्याम में शिक्षा का प्रचार बढ़ा। सन् १९३४ में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई। साथ ही दस्तकारी की शिक्षा के लिए भी स्कूल खोले गये। युद्ध से पहले श्याम की सरकार अपनी वार्षिक आय का लगभग १३ प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करती थी। सन १९३७ की जन-गणना के अनुसार श्याम में ३१. १ प्रतिशत लोग शिक्षित थे। शिक्षितों में पुरुषों की संख्या अधिक और स्त्रियों की कम थी। यद्यपि शिक्षा के प्रसार के साथ सरकार को नये स्कूल खोलने पड़े तथापि श्याम के ८० प्रतिशत स्कूल आज भी बौद्ध मंदिरों में हैं। श्याम को 'मंदिरों का देश कहा गया है। इस देश में मंदिरों की संख्या बीस हज़ार के लगभग बतलाई जाती है। श्याम में सहशिक्षा का खूब प्रचार है। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा साथ होती है। माध्यमिक श्रेणी में लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग स्कूल हैं। विश्वविद्यालयों में फिर उनको एक साथ शिक्षा दी जाती है।

श्याम की राजधानी बैंकाक में दो विश्वविद्यालय हैं। श्याम के लोगों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की बड़ी लगन है और उनकी इस आकांक्षा में श्याम की सरकार पूरी सहायता देती है। हर वर्ष श्याम के विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए योरप, अमेरिका, जापान, और फिलीपाइन्स में भेजे जाते है। सन् १६४१ में लगभग ५०० श्यामी विद्यार्थी विदेशों में शिक्षा पा रहे थे। चूँकि श्याम के हर नागरिक को दो वर्ष अनिवार्यतः सेना में काम करना पड़ता है, अतः श्याम में सैनिक शिक्षा हर नागरिक को दी जाती है। श्याम की राष्ट्रीय शिक्षा की यह एक विशेषता है। हीनयान बौद्धधर्म श्याम का राष्ट्रीय धर्म है। जिस प्रकार इंगलैंड के बादशाह के लिए यह आवश्यक है कि प्रोटेस्टेन्ट हो, उसी प्रकार श्याम के राजा के लिए भी आवश्यक है कि वह बौद्ध धर्मावलम्बी हो। श्याम के लोग अधिकांश बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, किन्तु दूसरे धर्मों के प्रति उनमें असहिष्णुता नही है। श्याम के विधान के अनुसार श्याम के हर एक नागरिक को धार्मिक स्वतंत्रता है। एक समय था जब-जब श्याम में हिन्दू धर्म अथवा ब्राह्मण धर्म के अनुयायी अधिक संख्या में पाये जाते थे, किन्तु इस धर्म का उत्थान श्याम में उस समय हुआ जब इस पर काम्बोज का आधिपत्य था। चौदहवीं शताब्दी में जब श्याम में थाई आधिपत्य स्थापित हुआ तब से यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार बढ़ा। आज ब्राह्मण धर्म के मानने वालों की संख्या केवल सैकड़ों में हैं, जिनकी बैंकाक के एक कोने में आज भी एक बस्ती है। यह बस्ती श्यामी ब्राह्मणों की है, जिन्हें श्याम की भाषा में "फ्राम" कहा जाता है। इन ब्राह्मणों को श्याम के राजदरबार में सम्मानित पद प्राप्त है। राज्याभिषेक के समय अधिकांश धार्मिक अनुष्ठान इन्ही ब्राह्मणों द्वारा किये जाते हैं। युवराज का नामकरण, नगरों और मंदिरों के नाम इन्हीं से रखाया जाता है। राजा के ज्योतिषी और आचार्य का काम भी

इन्हीं को सुपुर्द है। बौद्ध मंदिरों में ये पाठन का कार्य भी करते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि श्याम का राष्ट्रीय धर्म है, तथापि श्याम में हर धर्म के अनुयायियों को पूरी स्वतंत्रता है। श्याम में बौद्ध और हिन्दू धर्म का एक बड़ा ही सुन्दर समन्वय बर्तमान है। गुप्त वंश और वर्धन वंश के शासकों की तरह श्याम के शासक भी दोनों धर्मों का आदर करते आये है।

सामाजिक जीवन

श्यामियों का सामाजिक जीवन बड़ा ही आकर्षक है। श्याम के लोग नाचने-गाने की कला में बड़े प्रवीण होते है और उनका अधिकांश समय आमोद-प्रमोद में व्यतीत होता है। परन्तु श्याम का आमोद-प्रमोद उसके सामन्त वर्ग तक ही सीमित है। श्यामी किसान और मजदूरों की अवस्था हमारे देश के किसान और मजदूरों से अच्छी नहीं है। गरीबी के कारण भी दोनों में प्राय: एक से है। भारतीय किसान की तरह श्यामी किसान भी अपना सब समय खेती में लगा देता है। जीविका का कोई दूसरा साधन उसके पास नहीं है। दस्तकारी आदि से वह अभी भी वंचित है। महाजनों के चंगुल में वह फँसता जा रहा है। श्याम में पर्दे का रिवाज नहीं है। श्यामी स्त्री सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में मर्दों का हाथ बटाती हैं। भारतवर्ष की तरह श्याम में जाति-पांति का भेदभाव नहीं है। एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों से रोटी-बेटी का सम्बन्ध रखते है।

श्याम और विगत युद्ध

जिस समय सुपूर्व में जापान ने युद्ध की घोषणा की, उस समय श्याम की स्थिति बड़ी अजीब थी। श्याम मित्र राष्ट्रों का साथी था, किन्तु जापान की मलाया विजय के बाद श्याम की स्वतंत्रता के लिये संकट पैदा हो गया। श्याम की सरकार के सामने केवल दो मार्ग थे, या तो वह जापानियों

का आधिपत्य मान ले और या उसके हमलों को रोकने के लिए उससे युद्ध के लिए तैयार हो। जापान ने श्याम पर दबाव डाला कि वह धुरी राष्ट्रों का साथ दे। पहले तो श्याम की सरकार ने धुरी राष्ट्रों का साथ देने से इनकार कर दिया, किन्तु सन् १९४१ में जब जापान ने श्याम पर चढ़ाई कर दी तो श्याम को एक निश्चित फैसला करना ही पड़ा। मार्शल बिपुल संग्राम उस समय श्याम के प्रधान मंत्री थे। बिपुल का विश्वास था कि युद्ध में जर्मनी और जापान की विजय होगी। उन्होंने यह भी सोच रखा था कि श्याम जापान से मिल कर इंगलैंड और अमेरिका के विरुद्ध लड़ाई छेड़ेगा। श्याम के अधिकांश लोग और लुआंग प्रादित बिपुल की जापानी नीति के विरुद्ध थे। तथापि बिपुल ने जापान से संधि कर ही ली। प्रादित और उसके साथियों ने बिपुल की नीति के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और जापानियों के विरुद्ध मोर्चे की तैयारी की। ब्रिटिश कमान्डर लार्ड लुई माउन्ट बेटन की अनुमति न मिलने से क्रान्ति तो न हो सकी, किन्तु ज्योंही जापान ने आत्म समर्पण की घोषणा की, श्याम की सैनिक टुकड़ियों ने अमरीकी अफसरों की सहायता से देश पर अधिकार कर लिया और जापानियों ने हथियार रख दिये। बिपुल और उसके साथियों पर अभियोग लगा और वे जेलों में भर दिये गये। प्रादित के नेतृत्व में श्याम नई सरकार बनी। प्रादित की सरकार ने अमेरिका से संधि की और दोनों देशों में पुनः राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित हुआ। अमेरिका के साथ संधि हो जाने पर श्याम की स्थिति कुछ दृढ़ हो गयी। उसके प्रति इंगलैंड और फ्रांस के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। युद्ध के समय श्याम ने कम्बोडिया पर आधिपत्य कर लिया था इस लिये फ्रांस श्याम से बदला लेने पर तुला हुआ था, इंगलैंड की नीयत भी श्याम की ओर से अच्छी न थी। दोनों ने

मिल कर श्याम को संकट में डालना चाहा। इंगलैंड की दृष्टि श्याम के व्यवसाय पर थी और उनसे हवाई तथा जल-थल सेना के लिये अड्डों की मांग की। युद्ध में जापानियों का साथ देने के कारण इंगलैंड और फ्रांस ने श्याम से लड़ाई का हर्जाना लेना चाहा, किन्तु श्याम की ओर अमेरिका का मैत्रीपूर्ण रुख देख कर फ्रांस और इंगलैंड की सरकारों का रुख बदला और इन दोनों देशों ने श्याम के साथ पुनः मैत्री की संधि की। कम्बोडिया का प्रान्त फ्रांस को वापस मिल गया।

श्याम का आन्तरिक संघर्ष

सन् १९४६ ई० के अन्त तक युद्ध-जनित संकट तो किसी प्रकार टला, परन्तु श्याम को अभी शान्ति न बदी थी। वाह्य संकट ज्यों ही टला, श्याम में आन्तरिक संघर्ष और गृह-युद्ध के बादल मँडराने लगे। श्याम के इतिहास में आन्तरिक संघर्ष अथवा गृहयुद्ध कोई नई घटना नहीं है। विभिन्न थाई सामन्तों के बीच प्रायः संघर्ष होता आया है और कुछ समय के बाद फिर देश में शान्ति स्थापित हो गयी है। विगत संघर्ष भी कुछ इसी प्रकार का था। इस संघर्ष का मुख्य कारण लुआंग प्रादित और मार्शल विपुल संग्राम की प्रतिस्पर्धा थी। प्रादित की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर उसके प्रतिद्वन्दियों को संदेह हो गया कि कहीं प्रादित श्याम का डिक्टेटर न बन जाय और अपने विरोधियों का सदा के लिये अन्त कर दे। उन्होंने प्रादित की सरकार को उलटने की तैयारी की। इस संघर्ष का पहला दुःखद परिणाम यह हुआ कि श्याम के तत्कालीन बालक राजा आनन्द महिदल की हत्या कर डाली गई। कहा जाता है कि आनन्द महिदल की हत्या में तत्कालीन मंत्रिमंडल के कुछ सदस्यों का भी हाथ था। राजा की हत्या के बाद श्यामी सरकार की स्थिति डामाडोल हो गया देश के कई भागों में विद्रोह की आग भभक उठी और सारे

देश में अशान्ति उत्पन्न हो गयी। मलाया की सीमा पर बसे हुये श्यामी मुसलमानों ने पाकिस्तान की मांग की और श्याम से अलग होने की तैयारी की। श्याम के इस संघर्ष में विदेशियों का कितना हाथ था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु श्याम की स्वतंत्रता के लिये एक बहुत बड़ा संकट उत्पन्न हो गया। भाग्यवश यह अशान्ति अधिक बढ़ने न पायी और स्थिति बेकाबू होने से पहले केन्द्रीय शासन के पैर फिर जम गये। मार्शल पिपुल संग्राम के नेतृत्व में जो नई सरकार बनी उसने देश में शान्ति स्थापित किया। गृह-युद्ध का भय टला और स्थिति काबू में आ गयी। आनन्द महिदल के स्थान पर भूमिफल अदुलदत्त श्याम के राजा घोषित किये गये। दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य देशों की तरह श्याम में भी पिछले दो वर्षों से कम्यूनिस्ट आतंक बढ़ता रहा है। चीन, हिन्द-चीन बर्मा और मलाया में बढ़ते हुए कम्यूनिस्ट आन्दोलन का प्रभाव आज श्याम में स्पष्ट है। किन्तु श्यामी सरकार दृढ़ता के साथ स्थिति पर काबू किये हुए है।

श्याम और भारतवर्ष

भारतवर्ष को यदि श्याम की सांस्कृतिक धात्री कहा जाय तो इसमें अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि भारतवर्ष ने श्याम को धर्म, भाषा, साहित्य, लिपि, कला, वास्तुकला अर्थात् अपनी पूरी संस्कृति प्रदान किया है जो आज भी किसी न किसी अंश में श्याम में वर्तमान है। यद्यपि वर्मियों की तरह थाइयों का भी जातीय सम्बन्ध चीन से रहा है, तथापि खेमर और काम्बोज जातियों के सम्पर्क में आकर थाइयों ने भारतीय संस्कृति, भाषा, कला, साहित्य और लिपि का अनुसरण किया। जैसा पहले कहा जा चुका है, श्याम में थाई आधिपत्य से पहले खेमर

और काम्बोज जातियों का राज्य था। खेमर और काम्बोज जाति के लोग या तो स्वयं भारतीय थे अथवा इनका प्राचीन भारतवर्ष से घनिष्ट सम्बन्ध था। इन्हीं के सम्पर्क में आकर थाइयों का भारतीयकरण हुआ। आइये देखें भारतीय संस्कृति आज किस रूप और किस अंश में थाईदेश में वर्तमान है।

थाई साहित्य

थाई साहित्य पर भारतीय साहित्य का अमिट प्रभाव पड़ा है। प्राचीन भारतीय साहित्य की तरह थाई साहित्य भी अधिकांश धार्मिक है। परन्तु थाई साहित्य पर जितना प्रभाव बौद्ध अथवा पाली साहित्य का है उतना वैदिक साहित्य का नहीं है। श्याम के साहित्य में हमें भारतीय कथानक मिलते है, परन्तु उस मात्रा में नहीं, जितने कि जावा और वाली के साहित्य में। "रामायण" का थाई साहित्य में "रामकियन" नाम है। इसमें "फ्राराम" अथवा राम और उनके भाई "फ्रालक" अथवा लक्ष्मण की कथा का उल्लेख है। इसमें "फ्राराम" और लंका के राजा "सत्सकन" अथवा दशकन्ध के बीच युद्ध का वर्णन है, जिसने "फ्राराम" की स्त्री "नांगसेदा" अथवा सीता को हर लिया था। महाभारत के कतिपय कथानकों के आधार पर भी थाई साहित्य में पुस्तकें लिखी गयी हैं। इसमें से एक पुस्तक का नाम "अनरुत" है। इस पुस्तक में "अनरुत" अथवा श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध की कथा का वर्णन है। "फ्रिय फ्रालि सुक्रिप" नाम की एक पुस्तक है जिसमें "फालि" अथवा बालि और "सुक्रिप" अथवा सुग्रीव की कथा है। 'पखवदी' नाम की एक दूसरी पुस्तक में हिन्दू देवी भगवती का वर्णन है।

बौद्ध ग्रन्थों और कथानकों में थाई सहित्य कहीं अधिक धनी है। श्याम में पाली साहित्य की पुस्तकें बहुत बड़ी संख्या में हैं। श्याम के राजा चूलालांगकर्णी ने पाली त्रिपिटक का थाई

में अनुवाद किया। थाई भिक्षुकों ने भी पाली में कई मौलिक ग्रन्थ लिखे है, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार है.—

१. संखयपकाश (संख्य प्रकाश) लेखक—नानाविलास (१६ वीं सदी)
२ विशुधिमार्गदीपनो (विशुद्ध मार्गदीपनी) लेखक—उत्तरराम, (१७ वी सदी)
३ मंगलदीपनी
४. धम्मपत्थकथा (धर्मपथ कथा) } लेखक—श्रीमंगल, (१७वी सदी)।

मंगलदीपनी और धम्मपत्थकथा पाली साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

५. सधम्मसंग (सधर्म संघ)
६ जनकालमालिनी } लेखक—धम्मकिति

ये ग्रन्थ बौद्ध धर्म के प्रमाणित और सम्मानित ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त थाई साहित्य में गौतम बुद्ध के जीवन और उनके अवतारों के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें हैं, जिनमें से हर एक का उल्लेख करना यहाँ सम्भव नही है। इन धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त श्यामी साहित्य में नीति, व्यवस्था, विधान, और चिकित्सा के अनेक ग्रन्थ हैं जिन पर प्राचीन भारत की छाप वर्तमान है।

पर साहित्य से कहीं अधिक प्रभाव भारतीय भाषाओं का थाई भाषा पर है। आज भी थाई भाषा के अधिकांश शब्द ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध संस्कृत अथवा भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं से है। भारतीय भाषा-विज्ञान के पंडितों और जिज्ञासुओं को थाई भाषा का अध्ययन करना चाहिए। संस्कृत और पाली शब्द थाई भाषा में इतने हैं कि उनका एक अलग कोष बन सकता है। थाई व्याकरण का आधार भी बहुत कुछ संस्कृत व्याकरण ही है। हाँ, शब्दों के उच्चारण में काफी परिवर्तन आ

गया है। उदाहरण के लिये थाई और संस्कृत के कुछ शब्द नीचे दिये जा रहे हैं:—

संस्कृत		थाई
सूर्य	..	सूरिय
सूद्र	सूद (पाली)	सुत
दक्षिण	....	थक्खिन
धर्म	धम्मों (पाली)	थम
धर्मलोक	....	थम्म लोक
धनुप	....	धनु
धरनि	...	थरनि
अधिपति	....	थाईबोडी
धूलि	....	थूलि
त्रैलोक्य	.	त्रैलोक
त्रिपिटक	....	त्रिपिदक
त्रिशूल	....	त्रिसून
विहार	...	बेहन
वेदांग	..	वेथांख
वियोग	..	वियोक
वंश	...	वांग
यक्ष	....	यथ
यमराज	..	यमरात
युवराज	..	युफरात
ग्राम	गाम (पाली)	खम
गमन	...	खमन
गंगा	...	खोंखा
गुन	....	खुन
लक्ष	....	लाक

नगर	....	लखन
लोकपाल	....	लोकवान
महा	....	महा
मैत्री	...	मैत्री
माघमास	..	मखमात
मित्र	....	मित
मंत्र	....	मंतर
नरक	...	नरक
निर्गुण	....	नीरखुन
निर्दोष	...	नीरकोत
भिक्षुक	भिक्खू (पाली)	फिक्ख्
ब्रह्मलोक	...	फ्रोमलोक
अंगुलि	...	आंगघुलि
पश्चिम	....	पच्छिम
पादुका	....	पथुक
बाहन	....	फहन
बन्धन	...	फन्थन
बन्धु	....	फन्थु
वासुकी	....	फासुकी
व्याकरण	....	फयकन
वायु	...	फयु
भूतल	..	फूतल
प्रासाद	..	प्र.सात
पुरुप	..	पुरिसो
राजवंश	.	राचवंग
रोग निदान		रोख निकन
पत्र	पत्त (पाली)	वात्र

परिवार	..	बोखिर
जन		चन
गुरु	..	ग्र
हनुमान	....	होलोमन
इन्द्रिय	.	इन्थ्री
ईश्वर	....	ईसुयन
असुर	..	असुन
कपिलवस्तु	कपिलवत्थु (पाली)	कोपिलवत्थु
कम्बल	...	कम्फल
कंचनपुरी	....	कनबुरी
कल्प	कप्प (पाली)	कव्य

थाई भाषा, साहित्य, धर्म और संस्कृति इस बात के प्रखर प्रमाण हैं कि भारतवर्ष और श्याम के बीच सदियों का घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा ! किन्तु प्राचीन युग में इस घनिष्टता के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इधर कई सदियों से हमारा पारस्परिक सम्बन्ध प्रायः टूट सा गया था ! हमारी दासता ने हमको एक दूसरे से पृथक कर दिया। अब हमें पुनः अपने प्राचीन सम्बन्ध को जीवित करना है।

सन् १९४१ में श्याम में भारतवासियों की संख्या लगभग ५० हज़ार के थी।इनमें से अधिकांश छोटे-मोटे व्यापारी हैं और बैंकाक तथा दूसरे शहरों में रहते हैं ! थोड़े से पढ़े-लिखे भारतीय नौकरी पेशा हैं। उत्तरी भारत के कुछ लोग श्याम में गाय और भैंसें पाल कर अपनी जीविका कमाते हैं। भारत श्याम को जूट और जूट के बने सामान भेजता है, श्याम भारतवर्ष को चावल देता है। हमें अपने सांस्कृतिक, व्यवसायिक और राजनैतिक आदान-प्रदान को बढ़ाना है। स्वतन्त्र भारत और श्याम के बीच गहरा सम्पर्क स्थापित होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

हिन्द-चीन

भौगोलिक स्थिति

हिन्द-चीन दक्षिण-पूर्व एशिया का सीमान्त प्रदेश है। दक्षिण और पूर्व के समुद्री किनारों को छोड़ कर हिन्द चीन में प्राकृतिक सीमाएँ नहीं हैं। उत्तर और पश्चिम में इसकी सीमाएँ क्रमशः चीन, बर्मा और श्याम से मिली हुई हैं। हिन्द-चीन के अन्तर्गत ५ प्रदेश हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं

१. कोचीन - चीन
२. कम्बोडिया (प्राचीन काम्बोज)
३. अनाम
४. टांकिंग
५. लाओस

इनके अतिरिक्त हिन्द चीन में क्वान-चाइ वान नाम का एक छोटा सा प्रान्त भी है। अभी तक ये सब प्रदेश फ्रांस के आधिपत्य में रहे हैं। सन् १६४६ में अनाम और टांकिंग को मिलाकर "वियटनाम" प्रजातंत्र स्थापित हुआ है। चूंकि आज भी हिन्द-चीन में राष्ट्रीय संघर्ष चल रहा है, अतएव निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में हिन्द-चीन के विभिन्न प्रदेशों की राजनैतिक स्थिति क्या होगी।

पूरे हिन्द चीन का क्षेत्रफल २ लाख ८२ हजार वर्ग मील और जन-संख्या लगभग दो करोड़ चालीस लाख है। विस्तार में यह मद्रास प्रांत का दूना और जन-संख्या में उसके आधे से भी कम है। हिन्द-चीन के सब प्रदेशों में अनाम विस्तार में सबसे

बड़ा है। इसका क्षेत्रफल ५६६.७३ वर्गमील है। परन्तु इसका अधिकांश भाग पहाड़ी होने के कारण यहाँ की जनसंख्या केवल ६३ लाख के निकट है। पहाड़ों पर सागौन की लकड़ी और मैदानों में चावल और कपास की अच्छी उपज होती है। समुद्र तट पर कोयले की खदाने हैं। लाओस भी एक पहाड़ी प्रान्त है। इसका क्षेत्रफल ८६३२० वर्गमील और जन संख्या १५ लाख से कुछ अधिक है। इसका अधिकांश भाग जंगलों से ढका हुआ है। देश की उत्तरी सीमा पर टांकिंग हिन्द-चीन का सब से अधिक उपजाऊ प्रान्त है, इसका क्षेत्रफल ४०५३० वर्ग मील और सन् १६४० की जन गणना में इसकी जन संख्या ६२ लाख से कुछ अधिक थी। चावल यहाँ की मुख्य उपज है। कोयले की खदाने देश के विभिन्न भागों में पाई जाती हैं। हैफांग यहाँ का प्रसिद्ध बन्दरगाह है। हिन्द-चीन की राजधानी हनाई भी इसी प्रान्त में है। काम्बोडिया और कोचीन-चीन देश की दक्षिणी सीमा पर है। कम्बोडिया का क्षेत्रफल ६७५५० वर्ग मील और जन संख्या ३० लाख से अधिक है। कोचीन-चीन का क्षेत्रफल २६४७४ वर्गमील और जन संख्या ४६ लाख से कुछ अधिक है। मीनांग नदी इनके बीच से होकर बहती है। इसके डेल्टा में चावल की उपज अच्छी होती है। सेगांव कोचीन-चीन की राजधानी और व्यापार का प्रसिद्ध केन्द्र है। दक्षिण हिन्द-चीन का निर्यात यहीं से होता है।

हिन्द चीन का जलवायु श्याम की मलाया के सदृश गर्म और आर्द्र है। पूरे देश में मानसूनी हवाओं से खूब पानी बरसता है। पानी की अधिकता के कारण देश में बारहो महीने हरियाली बनी रहती है। मौसिम भारतवर्ष की तरह होते हैं। चावल और रुई के अतिरिक्त हिन्द-चीन में चाय, रबर, सुपाड़ी, मिर्च, तम्बाकू और नील की भी अच्छी पैदावार होती है।

निवासी

यद्यपि हिन्द्-चीन एक छोटा सा देश है, परन्तु इसमें विभिन्न जाति के लोग रहते हैं, जिनकी सभ्यता और संस्कृति एक दूसरे से प्रायः भिन्न है। इस जातीय विभिन्नता का एक मात्र कारण हिन्द्-चीन की भौगोलिक स्थिति है। समय-समय पर हिन्द् चीन पर, वर्मा और श्याम की ओर से चढ़ाईयाँ हुई है और एक के बाद दूसरी जातियाँ यहाँ बसती गयीं। इन जत्थों में से आज अधिकांश देश के विभिन्न भागों में रहते है। सामूहिक रूप से हिन्द्-चीन के निवासी दक्षिण-पूर्व एशिया के दूसरे देशों के निवासियों की तरह पीली जाति के है। अनामी हिन्द्-चीन की प्रधान जाति है। अनामियों की आबादी अधिकतर अनाम, टांकिंग और कोचीन-चीन में है इनकी संख्या देश की कुल जन-संख्या की पांच-चौथाई से भी कुछ अधिक है। अनामियों के बाद हिन्द् चीन में दूसरी प्रधान जाति खेमर "क्षेमर" जाति है। खेमरों की आबादी प्रायः काम्बोज तक ही सीमित है। अनामियों की अपेक्षा कान्बोज निवासियों की आकृति थाई लोगों से अधिक मिलती है। ये अनामियों से अधिक लम्बे और शरीर का गठन भरा हुआ होता है। खेमर सभ्यता और संस्कृति पर प्राचीन भारतीय सभ्यता का गहरा प्रभाव है। इससे अनुमान किया जाता है कि काम्बोज के लोग हिन्द्-चीन के आदि वासियों और भारतवर्ष के आर्य विजेताओं की सन्तान है। काम्बोज के लोग अपने को "कम्बु" की सन्तान कहते हैं। कम्बु के नाम पर ही इस देश का नाम काम्बोज पड़ा। कम्बु नाम भारतीय है इसमें सन्देह नहीं हो सकता। हिन्द् चीन में स्थायी रूप से रहने वाले चीनियों कीं संख्या लगभग साढ़े चार लाख है। अधिकांश चीनी देश के उत्तरी भाग और प्रमुख नगरों में रहते है। योरप निवासियों में फ्रांसीसियों की संख्या ४२

हज़ार से कुछ अधिक है। हिन्द-चीन में रहने वाली दूसरी योरोपीयों जातियों की संख्या नगण्य है। इन जातियों के अतिरिक्त देश मे आदि वासियों के जत्थे भी रहते है। अधिकतर आदि वासी खानाबदोश हैं और जीविका के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान घूमा करते है। इनकी स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है जैसी हमारे देश में कोल और भीलों की।

हिन्द-चीन के निवासी अधिकांश बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, पर हिन्द-चीनियों का बौद्ध धर्म वर्मा और श्याम में प्रचलित बौद्ध धर्म से प्रायः भिन्न है। व्यवहार में यह धर्म पितृ-पूजा और मृतक-पूजा का रूप धारण कर लेता है। एक समय था जब हिन्द-चीन में ब्राह्मण धर्म अथवा हिन्दू धर्म का प्रचार था, परन्तु वह समय सातवीं सदी के पहले का था। ७ वीं सदी के बाद हिन्द-चीन में बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा और धीरे धीरे सारा देश बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया। बौद्ध धर्म के प्रचार से पहले हिन्द-चीन में हिन्दू धर्म के मानने वाले अधिकतर काम्बोज और चम्पा * में थे। खेमर सभ्यता से परिचित पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि कम्बोडिया में प्रचलित धर्य की बहुत सी रीतियां भारतीय वैदिक रीतियों से मिलती हैं। वे रीतियां कौन सी है, इसका हमें ज्ञान नहीं है। कम्बोडिया का राजवंश आज भी ब्राह्मण धर्म का अनुयायी है। फ्रांसीसी आधिपत्य के समय से हिन्दचीन में ईसाई धर्म का भी थोड़ा बहुत प्रचार हुआ है। हिन्द चीन के ईसाई प्रायः सभी रोमन कैथलिक है।

इतिहास

ईसा की पहली सदी में "कौन्दिन्य" नामक सम्राट ने दक्षिण चीन में एक शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाली। यह सम्राज्य

---

* प्राचीन समय में आधुनिक कोचीन-चीन और दक्षिणी अनाम का नाम चम्पा था।

च न के इतिहास में "फुनन" साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत दक्षिण-चीन के अतिरिक्त आधुनिक हिन्द चीन के प्राय: सभी प्रदेश थे। "फुनन" में धीरे-धीरे भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ और इसके कई भागों में भारतीय उपनिवेश बसाये गये। भारतवर्ष से दूर इस खंड में भारतीय संस्कृति कब और कैसे घुसी इस विषय पर निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों से भारतीय विजेता यहां आकर बसे, राज्य स्थापित किये और अपने साथ भारतीय संस्कृति भी ले आये। पांचवीं सदी के अन्त में "फुनन" साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी और एक के बाद दूसरे प्रान्त अलग होते गये। थोड़े ही समय में एक राज्य के स्थान में छोटे-छोटे कई राज्यों की स्थापना हुई, जिनमें से अनाम, काम्बोज आदि आज भी वर्तमान हैं। फुनन साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर जो राज्य बने उनमें से भारतीय प्रभाव की दृष्टि से चम्पा और काम्बोज विशेष रूप से उल्लेखनीय है। छठीं शताब्दी के मध्य में फुनन आधिपत्य से मुक्त होने के बाद "श्रुतवर्मन" स्वतंत्र काम्बोज का पहला शासक हुआ। श्रुतवर्मन के बाद उसी वंश के ६ राजा और हुये जिनके नाम इस प्रकार हैं:—रुद्र वर्मन, अभय वर्मन, महेन्द्र वर्मन, ईशान वर्मन, और जय वर्मन। ८ वीं शताब्दी में काम्बोज की शक्ति क्षीण होने लगी और सुमात्रा स्थित श्रीविजय की सेनाओं ने काम्बोज पर चढ़ाई किया और अन्त में जावा के जयवर्मन ने नवीं शताब्दी के आरम्भ में काम्बोज को अपने अधिकार में कर लिया। इस नये राजवंश ने काम्बोज पर १५ वीं सदी के अन्त तक राज्य किया। इस वंश में कई तेजस्वी शासक हुये, जिनमें यशोवर्मन, राजवर्मन, उदयदित्य वर्मन और सूर्यवर्मन (द्वितीय) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यशोवर्मन के समय (८८६-६१० ई०) के बहुत

से शिलालेख आज भी काम्बोज में वर्तमान हैं। इसने अपने समय में महल और मन्दिर बनवाये। 'यशोधरपुरा' नाम की राजधानी और वेदान के प्रसिद्ध शिव मंदिर का निर्माण इसी ने कराया। काम्बोज में जहाँ आज 'अंखरथाम' के खंडहर हैं वहाँ किसी समय यशोधरपुरा के सुन्दर महल थे। सूर्यवर्मन द्वितीय ने (१११२–११५७ ई०) 'अंकरवाट' के प्रसिद्ध विष्णु मंदिर का निर्माण कराया जो एशिया की प्राचीन वास्तु कला का एक उज्ज्वल उदाहरण है। जयवर्मन (११८२–११२१ ई०) काम्बोज का अंतिम प्रतापी राजा हुआ। यह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। इतिहासकारों का कहना है कि इसने अपने समय में १०२ अस्पताल बनवाये और चम्पा और पेगू को अपने राज्य में मिला लिया। फुनन साम्राज्य से अलग होकर चम्पा भी एक स्वतंत्र राज्य बन गया था। लगभग २०० वर्षों तक चम्पा की स्थिति अच्छी रही। परन्तु ९ वीं शताब्दी के आरम्भ में चम्पा की शक्ति क्षीण होने लगी और पूर्व से अनाम और पश्चिम से काम्बोज की ओर से चम्पा पर हमले होने लगे। सन् १०४४ में अनाम की सेनाओं ने चम्पा की राजधानी श्री विजय को तहस-नहस कर डाला और चम्पा का तत्कालीन राजा जयसिंह वर्मन मारा गया। इस हमले के बाद चम्मा की स्थिति सँभल न सकी। सन् ११४५ ई० में चम्पा को काम्बोज का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। कई उलट-फेर के बाद अंत में सन् १४४६ में चम्पा अनाम के आधिपत्य में आ गया और सन् १४७१ में उसका अस्तित्व सदा के लिये मिट गया।

इसी समय काम्बोज की भी स्थिति बिगड़ी। १४ वीं सदी के आरम्भ में श्याम काम्बोज अलग हो गया और थाइयों ने काम्बोज पर आधिपत्य करना चाहा। श्यामी हमलों से ऊब कर काम्बोज के राजाओं ने यशोधरपुरा को छोड़कर एक दूसरी राजधानी बनाया, परन्तु १६ वीं सदी में उसे भी छोड़ना पड़ा। १६ वीं सदी

के बाद काम्बोज एक विघटित राज्य के रूप में अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पश्चिम में श्याम और पूर्व में अनाम से लड़ता रहा।

पाश्चात्य प्रभाव और फ्रेंच आधिपत्य

जिस समय हिन्द चीन के राज्य आपस में लड़ कट रहे थे उसी समय साम्राज्य और व्यापार के भूखे योरोपीय व्यापारियों का कारवां एशिया के इस खंड में भी आ पहुँचा। हिन्द चीन में सबसे पहले पहुँचने वाले पुर्तगाली और डच थे। उन्होंने समुद्री किनारों पर अपना पैर जमाना चाहा, परन्तु उनको विशेष सफलता न हुई। १७ वीं सदी के उत्तरार्ध में हिन्द चीन में फ्रांसीसियो का प्रभाव बढ़ा और अगले सौ वर्षों में एक के बाद दूसरे हिन्द-चीनी प्रदेश फ्रांस के आधिपत्य में आ गये। फ्रांस के संरक्षण में जाने वाला सबसे पहला हिन्द चीनी प्रदेश कोचीन-चीन था। सन् १७८७ में अनाम के साथ एक संधि हुई जिसके अनुसार ट्यूरेन और पुलो-कोन्डोर टापू फ्रांसीसी व्यापारियों को दे दिये गये। फिर क्या था, फ्रांसीसियों ने अंगुली पकड़ कर बाजू पकड़ लिया। सन् १८५८ में फ्रांसीसी सेनाओं ने सेगांव पर चढ़ाई कर दिया। लगभग तीन वर्ष के युद्ध के बाद अनामी सेनाएँ पराजित हुयीं और सन् १८६२ की संधि में कोचीन-चीन को फ्रांसीसियों के हवाले कर अनाम ने अपनी जान बचाई। एक वर्ष के बाद कम्बोडिया की बारी आई। श्याम और अनाम के हमलों से ऊब कर कम्बोडिया के तत्कालीन राजा नोरोदम (नरोत्तम) ने सन् १८६३ में फ्रांसीसियों से संधि की और अपने राज्य को उनके संरक्षण में रखना स्वीकार कर लिया। दस वर्ष बाद फ्रांसी-सियों ने टांकिंग और अनाम पर भी चढ़ाई करने का बहाना निकाल लिया। लगभग १० वर्ष के संघर्ष के बाद टांकिंग और अनाम ने भी फ्रांस का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। सन् १८९३

ई० में लाओस और सन् १८९८ में क्वांग-चाऊवान भी फ्रांसीसी साम्राज्य के अंग बन गये।

शासन

सन् १८८७ से पहले हिन्द चीन के विभिन्न राज्यों का शासन अलग-अलग था। सन् १८८७ में सारा देश एक फ्रांसीसी गवर्नर जनरल के अधीन कर दिया गया। गवर्नर जनरल के नियंत्रण में केन्द्रित शासन-प्रणाली हिन्द चीन पर जापानी आधिपत्य के समय तक चलती रही। वियतनाम प्रजातंत्र को छोड़कर हिन्द चीन के दूसरे प्रदेश आज भी फ्रांसीसी गवर्नर जनरल के शासन में हैं, गवर्नर जनरल की उपाधि बदल कर हाई-कमिश्नर कर दी गयी है। गवर्नर जनरल ब्रिटिश वाइसराय की तरह देश का प्रधान शासक और हिन्द चीन में फ्रांसीसी सरकार का प्रतिनिधि है। सेना पर भी उसका नियंत्रण है। वह एक कौंसिल की सहायता से शासन करता है, जिसे हिन्द चीन की प्रमुख समिति (Superior Council for Indo-China) कहते हैं। इस कौंसिल में गवर्नर जनरल के निजी सलाहकार, पेरिस पार्लियामेन्ट में हिन्द चीन के प्रतिनिधि (Deputy) वाणिज्य के प्रतिनिधि और कुछ इने-गिने प्रमुख हिन्द चीनी रहते हैं। केन्द्रीय और प्रान्तीय बजट यही कौंसिल तैयार करती है। यह कौंसिल केवल हनोई में ही नहीं, विभिन्न प्रान्तीय राजधानियों में भी बैठती है। इसकी एक समिति विभिन्न प्रान्तों में जाकर काम करती है। सुरक्षा के मामलों में गवर्नर जनरल को सलाह देने के लिये एक सुरक्षा-समिति भी है जिसके सदस्य जल और थल सेना के उच्च अधिकारी हुआ करते हैं।

राज्यों का शासन नाम मात्र के लिये वहां के शासकों के हाथ में है। परन्तु वास्तव में राज्यों में भी शासन की प्रधान सत्ता फ्रांसीसी अधिकारियों के हाथ में है। कोचीन-चीन के

प्रधान शासक को गवर्नर और अन्य चार राज्यों के प्रधान शासक को रेज़ीडेन्ट सुपीरियर (Resident Superior) कहते है। राज्यों का शासन इन्हीं के इशारों पर चलता है। हिन्द चीन के प्रमुख नगरों में म्युनिसिपलबोर्ड है, जिनके सदस्य निर्वाचित होते है। इस प्रकार हम देखते है कि फ्रांसीसियों ने हिन्द चीन में जो शासन प्रणाली स्थापित कर रखी है, उसके संचालन में हिन्द चीन के निवासियों का कोई हाथ नहीं रहा है।

हिन्द चीन का जन-आन्दोलन

विगत युद्ध में दक्षिण-पूर्व एशिया पर जापानी आधिपत्य का बड़ा गहरा राजनैतिक प्रभाव पड़ा। सारे दक्षिण-पूर्व एशिया मे पाश्चात्य आधिपत्य के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। जिन देशों में राष्ट्रीय भावनायें पहले से थीं वहाँ उग्र हो उठीं और जहां कहीं नहीं भी वहाँ भी जापानी आधिपत्य के समय उत्पन्न हो गयीं। हिन्द चीन के जन-आन्दोलन का श्री गणेश विगत युद्ध से कुछ पहले हुआ था। सन् १६४० में विदेशी शासन के विरुद्ध अनाम में आन्दोलन आरम्भ हुआ, परन्तु शासकों ने दमनकारी नीति का अनुसरण कर उसे दबा दिया। इसी बीच सुदूर पूर्व में युद्ध छिड़ा और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से लाभ उठा कर अनामियों ने अपने को स्वतंत्र घोषित किया। पूर्व में युद्ध आरम्भ होते ही फ्रांसीसी सत्ता तो हिन्द चीन से जाती रही, पर एक दूसरा संकट आ पहुँचा। इधर राष्ट्रवादियों ने अनाम स्वतंत्र घोषित किया उधर हिन्द चीन पर जापान के हमले आरम्भ हो गये। हिन्द-चीनियों ने डट कर जापानी आक्रमणों का सामना किया। यद्यपि हिन्दचीन पर जापान का अधिकार हो गया, फिर भी अनामी राष्ट्रीय आन्दोलन जारी रहा। सन् १६४२ में अनाम में राजतंत्र के विरुद्ध आवाज उठी और अनाम के सम्राट बाओदाई को गद्दी छोड़नी पड़ी। जापानी आधिपत्य

के तीन वर्षों में हिन्द-चीन को बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उसके प्राकृतिक साधनों का भयंकर शोषण किया गया, कम्बोडिया श्याम के आधिपत्य में चला गया। परन्तु अनाम और टांकिंग में राष्ट्रवादियों ने अपनी स्थिति को सँभाला और सन् १९४५ में जापान की पराजय के बाद उन्होंने स्वतन्त्र वियतनाम * की घोषणा की। वियतनाम प्रजातन्त्र में अनाम और टांकिंग के राज्य शामिल हैं। जापानी राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता हो-ची- मिन्ह प्रजातन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति बनाये गये।

जापान की पराजय के बाद फ्रांसीसी जब हिन्द-चीन लौटे तो उन्होंने देश की स्थिति को बदला पाया। हिन्द-चीन की बदली हुई स्थिति के अनुसार उन्हे अपनी औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन करना चाहिये था, परन्तु वियतनाम की राष्ट्रीय भावना का गलत अन्दाज़ा लगाकर उन्होंने उसे कुचलने की तैयारी की। पश्चिम के दूसरे साम्राज्यवादी देशों की तरह फ्रांस को भी यह भ्रम रहा है कि हिन्द-चीन में फ्रांसीसी शासन का विरोध जापानी प्रचार के कारण है और जापानी प्रभाव मिट जाने पर देश की स्थिति फिर पहले जैसी हो जायगी। इस भ्रमपूर्ण तर्क के आधार पर सितम्बर सन् १९४५ में फ्रांसीसी सेनायें अनाम पर चढ़ आईं। रणचंडी नाच उठी, अनाम की भूमि रक्त रंजित हो चली। जापानियों को हिन्द-चीन से निकाल भगाने की आड़ में साम्राज्यवादियों ने वियतनामी स्वातंत्र्य आन्दोलन को कुचलना चाहा। ब्रिटेन की सेनाओं ने भी फ्रांस का साथ दिया, किन्तु अनामियों ने घुटने न टेके, अपूर्व त्याग और अदम्य उत्साह के साथ उन्होंने युद्ध जारी रखा। युद्ध की लपट बढ़ते देख फ्रांसीसियों

---

* 'वियतनाम' अथवा 'बीतनाम', अनाम, टांकिंग और कोचीन-चीन का प्राचीन नाम है, जब ये तीनों प्रदेश एक आधिपत्य में थे।

को भय हुआ कि यदि युद्ध की ज्वाला हिन्द चीन के दूसरे प्रदेशों में फैली तो वे संकट में पड़ जायेंगे। अतएव उन्होंने समझौते की बात आरम्भ किया। सन् १९४६ के आरम्भ में समझौता हुआ, जिसमें कुछ शर्तों के साथ फ्रांस ने वियतनाम की मान्यता को स्वीकार किया। राष्ट्रवादियों की यह पहली विजय थी।

इस समझौते के बाद युद्ध स्थगित हो गया। लगभग दस महीने तक वियतनाम और फ्रांस के सम्बन्ध अच्छे रहे और हिन्द-चीन के वैधानिक प्रश्न पर मैत्रीपूर्ण वार्ता होती रही। परन्तु इसी बीच फ्रांस की ओर से कोचीन-चीन में एक 'स्वतन्त्र सरकार' स्थापित करने की चेष्टा के परिणाम स्वरूप वियतनामियों को यह सन्देह हो गया कि फ्रांस पिछले समझौते को तोड़ कर वियतनाम के मार्ग में नई अड़चने पैदा करना चाहता है। फिर क्या था, वातावरण गर्म हो चला और संघर्ष पुनः आरम्भ हो गया। इस बार वियतनाम और फ्रांस के बीच जो संघर्ष आरम्भ हुआ वह किसी न किसी रूप में आज भी चल रहा है। विगत दो वर्षों में समझौते के लिए भी प्रयत्न किये गये हैं और किये जा रहे हैं। फ्रांस की औपनिवेशिक नीति में परिवर्तन भी दिखाई पड़ता है। परन्तु अब भी दोनों पक्षों में कुछ ऐसे मौलिक मतभेद हैं कि समझौता नहीं हो पाता। वियतनामी प्रजातन्त्र और फ्रांस के पक्षों में क्या अन्तर है, इसका संक्षेप में उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। वियतनाम का पक्ष स्पष्ट है। वियतनामी चाहते हैं कि फ्रांस, वियतनाम और कोचीन-चीन की एकता और स्वतन्त्रता को स्वीकार कर ले और उसकी आन्तरिक और वैदेशिक नीति में किसी तरह का हस्तक्षेप न करे। फ्रांस कोचीन-चीन को छोड़ कर वियतनाम को औपनिवेशिक स्वराज्य देने के लिये तैयार है, पर वह उसे फ्रांसीसी संघ से बाहर पूर्ण सत्ताधारी राष्ट्र मानने को तैयार नहीं है। वैदेशिक नीति और सुरक्षा वह अपने हाथ

में रखना चाहता है। फ्रांस की ओर से हिन्द-चीन के वैधानिक प्रश्न को सुलझाने के लिए जो योजनाएँ बनाई गई हैं उनकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं, फ्रांस के तत्वावधान में हिन्द-चीन एक स्वराज्य प्राप्त उपनिवेश होगा। इस हिन्द चीनी संघ में वियतनाम, कोचीन-चीन, कम्बोडिया और लाओस अर्थात हिन्द के पाँचो प्रदेश शामिल होगे। यह संघ स्वयं फ्रांसीसी संघ का एक अंग होगा। इस योजना से यह स्पष्ट है कि फ्रांस हिन्द-चीन की आन्तरिक शासन प्रणाली में परिवर्तन करने को तैयार है। परन्तु वह उस पर से अपना पूरा नियंत्रण हटाने को तैयार नहीं है। फ्रांस को भय है कि वियतनाम के स्वतन्त्र हो जाने पर हिन्द चीन के दूसरे प्रदेश भी उसकी ओर आकृष्ट हो जायेंगे और सम्भवतः फ्रांस को अपने एशियाई साम्राज्य से हाथ धोना पड़ेगा। फ्रांस का यह भय निराधार नहीं है। कोचीन-चीन के साथ यदि वियतनाम फ्रांसीसी अधिकार से बाहर हो जाय तो हिन्द चीन का प्रायः पांच चौथाई भाग फ्रांस के हाथ से निकल जायगा। केवल कम्बोडिया और लाओस उसके अधिकार में रह जायेंगे। राजनैतिक कारणों के अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से भी हिन्द-चीन की स्वतन्त्रता फ्रांस अपने लिए हितकर नहीं समझता। युद्ध से जजरित फ्रांस, हिन्द-चीन में अपने आर्थिक स्वत्वों की उपेक्षा नहीं कर सकता।

अपने आर्थिक और राजनैतिक स्वत्वों की रक्षा के लिए साम्राज्यवादियों ने साम, दाम, दंड, भेद, सब प्रकार की नीति को अपना रखा है। बहुत दिनों तक तो उन्हें यह विश्वास था कि सैनिक शक्ति के आधार पर वे हिन्द-चीन के जन-आन्दोलन को दबा देंगे, परन्तु सेना के बल पर अपने उद्देश्य की पूर्ति होते न देख उन्होंने हिन्द-चीन में भेद डालने की नीति पर भी अमल करना आरम्भ कर दिया है। हो-ची-मिन्ह के साथ समझौते की आशा न देख कर दिसम्बर सन् १९४७ में फ्रांसीसी अधि-

कारियों ने अनाम के भूत पूर्व सम्राट बाओदाई के साथ समझौते की बात से अनाम के राष्ट्रीय मोर्चे में फूट आ गई है। आज यदि हो-ची-मिन्ह और बाओदाई मिल कर फ्रांस के सामने अपनी मांगें रखे तो सम्भवतः उन्हे मानने पर फ्रास को बाध्य होना पड़े। परन्तु उनके पारस्परिक मतभेद से लाभ उठाकर फ्रांस अपने स्वार्थ की रक्षा कर रहा है। पिछले वर्ष से बाओदाई से समझौता करने के लिये कई बार वार्ता चलाई गई है। उन्हें अनाम की गद्दी दिलाने का भी लालच दिया जा रहा है, परन्तु अभी तक बाओदाई भी वियतनाम की स्वतंत्रता के प्रश्न पर दृढ़ है, क्योंकि उन्हें भय है कि यदि वे वियतनाम की स्वतंत्रता के प्रश्न पर झुके, तो उनकी लोकप्रियता जाती रहेगी।

यह तो हुई फ्रांस और वियतनाम की पारस्परिक अड़चनों की बात। हिन्द-चीन के वैधानिक प्रश्न को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय बाधायें भी उत्पन्न हो गई हैं। हो-ची-मिन्ह को छोड़ कर बाओदाई के साथ समझौता का प्रयत्न जो फ्रांस की ओर से किया जा रहा है उसके पीछे एक दूसरा कारण भी बतलाया जाता है। हो-ची-मिन्ह बाम पक्ष के (कम्यूनिस्ट) नेता हैं। यदि हिन्द-चीन में हो-ची-मिन्ह के पक्ष का प्रभाव बढ़ा तो दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्यवाद के वेग को रोकना प्रायः असम्भव हो जायगा। साम्यवाद के प्रसार के साथ दक्षिण-पूर्व एशिया में रूस का पक्ष दृढ़ होगा। ऐंग्लो-अमरिकन गुट्ट, जिसमें फ्रांस भी शामिल है, हिन्द चीन में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने के पक्ष में नहीं है। बाओदाई के साथ समझौता करने में प्रायः ऐसा कोई खतरा नहीं है। सम्राट बाओदाई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में निश्चित रूप से ऐंग्लो-अमेरिकन गुट्ट का साथ देगे। फ्रांस और बाओदाई के बीच वार्ता काफ़ी दूर तक पहुँच चुकी है। एक अस्थायी शासन की भी

घोषणा की जा चुकी है परन्तु वियतनाम की अधिकांश जनता, मजदूर और किसान हो-ची-मिन्ह के पक्ष में हैं। अतएव लोगों का अनुमान है कि जब तक फ्रांस हो-ची-मिन्ह के साथ समझौता नहीं करता, वियतनाम अथवा पूरे हिन्द-चीन का प्रश्न सुलझ न पायेगा।

आर्थिक और सामाजिक स्थिति

जैसा अभी कहा जा चुका है, पिछले ८ वर्षों से हिन्द-चीन में एक व्यापक राष्ट्रीय क्रान्ति चल रही है। इस क्रान्ति ने जनता में एक अपूर्व उत्साह और जागृति उत्पन्न कर दिया है। हिन्द-चीन के लोग आज अपनी राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी समस्याओं की ओर आकृष्ट हो चुके है। वे अपने राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन की त्रुटियों और आवश्यकताओं से भली भांति परिचित हैं और इस दिशा में उन्होंने एक हद तक सफल प्रयत्न भी किया है। परन्तु देश की राजनैतिक अव्यवस्था और संघर्ष में वे इस तरह व्यस्त हैं कि उन्हें अपने देश के औद्योगिक विकास की ओर समुचित ध्यान देने का अवसर नहीं मिल सका है। वियतनाम तो पिछले तीन वर्षों से युद्ध-क्षेत्र बन गया है। वियतनामियों की सारी शक्ति अपने सैनिक संगठन को दृढ़ करने में लगी हुई है। परन्तु इस स्थिति में भी वियतनाम के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में जो सुधार हुये हैं वे कुछ कम नहीं है।

राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ने से पहले हिन्द-चीन के बड़े-बड़े उद्योग प्रायः फ्रांसीसियों के हाथ में थे। सुदूरपूर्व में युद्ध छिड़ते ही देश के आयात और निर्यात दोनों प्रायः बन्द से हो गये। छोटे-मोटे ग्रामीण उद्योग-धन्धे तो विदेशियों ने पहले ही नष्ट कर डाला था। जिस समय देश में जापान का आधिपत्य हुआ उस समय से अन्न की स्थिति भी बिगड़ती गई। अन्न के स्थान पर जापानियों ने देश में सन और अंडी की खेती आरम्भ किया।

अन्न की उपज कम हो गई। अपनी जन-संख्या के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में फैली हुई जापानी सेनाओं के खिलाने का भार भी हिन्द-चीन पर पड़ा। फिर क्या था, देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। परन्तु हिन्द-चीन की जनता ने बड़े धैर्य के साथ इन कठिनाइयों का सामना किया और जापानी पराजय के कुछ ही सयय बाद कृषि की स्थिति को सुधार लिया। सन् १६४१ में हिन्द-चीन से भागते समय फ्रांसीसी खज़ाना खाली कर गए थे। जनता की सरकार ने इस आर्थिक संकट को किस तरह पार किया यह भी इतिहास की एक अपूर्व घटना है। जनता ने चन्दे लगा कर और कर्मचारियों ने अपने वेतन में कमी करके राष्ट्र को संकट से बचाया। आज वियतनाम की आर्थिक स्थिति पहले से अच्छी है। उद्योग-धन्धे भी देश में बढ़ रहे हैं

शिक्षा-प्रसार और समाज-सुधार भी जनतंत्र के प्रयत्न सराहनीय है। क्रान्ति से पहले हिन्द-चीन में अधिकतर फ्रेंच भाषा ही शिक्षा का माध्यम थी, आज स्कूलों में वियतनामी और दूसरी प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग किया जा रहा है। प्रारम्भिक शिक्षा तो प्रायः अनिवार्य हो चली है। प्रौढ़-शिक्षा की ओर भी लोगों का विशेष ध्यान है। सार्वजनिक शिक्षा संस्थाएँ प्रौढ़-शिक्षा के प्रसार में योग दे रही है। नारी-समाज में भी शिक्षा का अच्छा प्रचार हो रहा है। जिस हिन्द-चीन में विगत युद्ध से पहले दो दर्जन से अधिक समाचार पत्र नहीं निकलते थे वहाँ आज सैकड़ो की संख्या में पत्र और पत्रिकाएँ निकल रही है। सामाजिक क्षेत्र में भी प्रशंसनीय काम हुआ है। वियतनाम में आज से दो वर्ष पूर्व अफीम और शराब पर रोक लगा दी गयी थी। मजदूरों के वेतन, काम के घंटे और छुट्टियों के सम्बन्ध में भी नियम बनाये गये हैं जो हमारे देश के वर्तमान

नियमों से कहीं अधिक उदार है। शिक्षा और संस्कृति के विकास में अल्पसंख्यकों और पिछड़ी हुई जातियों को विशेष सुविधायें दी गई है। व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता का सिद्धान्त आज हिन्द-चीन का सर्वमान्य नियम बन गया है।

भारतवर्ष और हिन्द चीन

काम्बोज और चम्पा के प्राचीन और मध्य कालीन इतिहास इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्द-चीन का भारतवर्ष से घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा। काम्बोज और चम्पा के राज्यों का वर्णन पढ़ते समय हमें प्राचीन हिंदू राज्यों और सम्राटों का स्मरण हो आता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हम भारतवर्ष के किसी प्राचीन राज्य का वर्णन पढ़ रहे है। नाम, धर्म, शासन-पद्धति, पूर्वजों और देवताओं की स्तुति, शिला-लेखों की प्रथा ये सब एक से हैं। हिन्द-चीन में बिखरे हुए आज भी अनेक ऐसे शिला-लेख वर्तमान हैं जो इन देशों में भारतीय प्रभाव के अकाट्य प्रमाण है। चम्पा और काम्बोज, जावा और सुमात्रा को विदेशी यात्रियों ने भारतवर्ष का टुकड़ा बतलाया है। १० वीं सदी के इब्न रोस्तेह नामक एक अरब यात्री ने जो काम्बोज में दो वर्ष तक रहा, लिखा है कि "खेमर भारतवर्ष का एक भाग है।" पूर्वी द्वीप समूहों के देशों के बारे में वही यात्री कहता है कि इन देशों के लोग भारतीय है। इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों मे भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव था और इन देशों की भाषा, साहित्य, लिपि, धर्म अर्थात् पूरी संस्कृति भारतवर्ष का प्रभाव स्पष्ट है। यद्यपि समय ने बहुत कुछ परिवर्तन कर दिये हैं तथापि वह प्रभाव आज भी किसी न किसी अंश में वर्तमान है। भारतीय संस्कृति के प्रभाव का एक अंश खेमर भाषा में देखा जा सकता है। खेमर भाषा अथवा काम्बोज की आधुनिक भाषा में संस्कृत और पाली

शब्दों का इतना आधिक्य है कि उनका एक कोष बन सकता है। खेमर लिपि दक्षिण भारतवर्ष के पल्लव अथवा चालुक्य लिपि से मिलती जुलती है। संस्कृत और पाली शब्दों में कुछ निश्चित नियमों के अनुसार परिवर्तन कर दिये गये हैं। उदाहरण के लिये हम कह सकते है कि संस्कृत के "ग" "य" "ड" "प" "ब" "स" और "व" क्रमश; प्रचलित खेमर में "क" "ड" "ट" "ब" "य" "स" "प" में परिवर्तित हो गये हैं। फिर भी इन शब्दों को पहचानना कुछ कठिन नहीं है। उदाहरण के लिये कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं:—

संस्कृत		खेमर
देवता	...	तेवदा अथवा तेप्दा
पुरुष	....	बरोस
स्वर्ग	.	सुरके
विमान	..	फिमीन
गरुड़	..	क्रुत

खेमर में संस्कृत के शब्दों को संक्षिप्त करने की भी प्रणाली पाई जाती है।

संस्कृत		खेमर
लिंग	....	लिन
विष	....	पिस
दोष	....	तस
वेला	....	पेल
हस्थ	....	हाथ
पति	....	प्ति
शून्य	....	सुन
वर	....	ब्राह

परन्तु इस सांस्कृतिक घनिष्टता के होते हुए भी पराधीनता के अभिशाप में हम दूसरे को भूल गये। आज उसका परिणाम यह है कि हमें हिन्द-चीन एक अज्ञात और नया देश जान पड़ता है। पिछले ८०० वर्षों से हम एक दूसरे से अलग हैं। परन्तु भाग्य-चक्र अब घूम चुका है। हम आजादी के प्रकाश में एक दूसरे की ओर पुनः आकर्षित होने लगे हैं। एक को दूसरे से सहानुभूति है। अब तक हिन्द चीन हमारी आजादी की लड़ाई की ओर आशा लिये देख रहा था। आज हम आजाद हैं, और अब हम हिन्द-चीन की आजादी की राह देख रहे हैं।

चीन

नाम कैसे पड़ा

भारतवर्ष की तरह चीन के भी कई नाम मिलते हैं। भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों में इसे 'महान चाउ' कहा गया है। जापानियों ने चीन का 'टांग' नाम दे रक्खा है। अन्य देश इसे 'चीन' अथवा 'चाइना' कहते हैं। किन्तु स्वयं चीन के लोग अपने देश को इनमें से किसी भी नाम से नहीं पुकारते। चीन नाम तो उन्हें अच्छा भी नहीं लगता। वे अपने देश को 'चुंग हुवा' अथवा 'चुंग कू' नाम से पुकारते हैं। चीन की भाषा में 'चुंग' का अर्थ है 'मध्य में स्थित, 'हुवा' का अर्थ है 'फूल' और 'कू' का अर्थ देश है। इस प्रकार चीन के लोग अपने देश को मध्य में स्थित फूले-फले देश के नाम से पुकारते हैं। चीन अथवा चाइना नाम चीन के एक प्राचीन राज्य से लिया गया है। प्राचीन काल में मंचूरिया के निकट चीन नाम का एक राज्य था। धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश इसके आधिपत्य में आ गया। इस राज्य की ख्याति ज्यों-ज्यों विदेशों में पहुँची, लोगों ने पूरे देश का नाम चीन रख दिया।

विस्तार और भौगोलिक स्थिति

एशिया के उत्तर-पूर्व भाग में स्थित चीन जनसंख्या में संसार का प्रथम और विस्तार में संसार का दूसरा देश है। सारे संसार के लगभग एक चौथाई प्राणी इसी देश में बसते हैं। विस्तार में इससे बड़ा देश केवल रूस है। विस्तार और जनसंख्या को देखते हुए यदि चीन को महाद्वीप कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। चीन की सीमाएँ प्राकृतिक हैं। यह उत्तर में साइबेरिया, पश्चिम में

गोबी के रेगिस्तान, दक्षिण में हिमालय और पूर्व में प्रशान्त महासागर से घिरा हुवा है। यों तो चीन और भारतवर्ष एक दूसरे से बहुत दूर हैं, किन्तु यदि हिमालय पर्वत बीच में न होता तो चीन और भारतवर्ष सम्भवतः सरहद्दी देश होते।

स्थिति और रूप-रेखा में चीन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका से मिलता-जुलता है। दोनों देश भूमध्य रेखा से उत्तर एक ही अक्षांस और देशान्तर पर बसे हुये है। अमेरिका की तरह उत्तर-चीन का जलवायु सर्द, दक्षिण का गर्म और मध्य का परिमित है। ऋतु भी दोनों देशों में तदनुरूप होते हैं। हां, दक्षिण-चीन में अमेरिका के दक्षिण भाग से अधिक वर्षा होती है और उत्तर-चीन अमेरिका के उत्तरी भाग से अधिक शुष्क है। जाड़े के दिनों में पूरे चीन में कड़ी सर्दी पड़ती है। उत्तर-चीन तो वर्ष के कई महीनों तक बर्फ से ढका रहता है। वर्षा की कमी के कारण उत्तर चीन में तीन-चार वर्षो के बीच कभी एक अच्छी फसल उग पाती है। केवल ह्वांगहो बेसिन में गेहूँ की अच्छी उपज होती है। इस भाग में कभी-कभी अत्यधिक वर्षा भी हो जाती है और बाढ़ आ जाने से अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। साधारणतः वर्ष में केवल एक फसल होती है। इस भाग में जंगम कम है। केवल साइबेरिया के निकट कुछ पुराने जंगल शेष रह गये हैं।

जलवायु और उपज की दृष्टि से दक्षिण-चीन उत्तर-चीन से प्रायः विभिन्न है। इस भाग में वर्ष के प्रायः नौ महीने खेती के के लिए उपयुक्त होते हैं। वर्ष में दो फसलें तो साधारणतः होती है, कहीं-कहीं तीन-तीन फसलें भी हो जाती है। वर्षा की अधिकता के कारण दक्षिण चीन में जंगल अधिक है। अब कुछ काट डाले गये हैं। दक्षिण-चीन में धान की फसल अच्छी होती है।

चीन के पाँच बड़े-बड़े भौगोलिक विभाग है। इनके नाम हैं खास चीन, मंचूरिया, मंगोलिया, चीनी तुर्किस्तान अथवा सिक्यांग

और तिब्बत। भौगोलिक और एतिहासिक दृष्टिकोण से खास चीन का जो महत्व है, वह देश के किसी दूसरे भाग का नहीं है। विस्तार और जन संख्या दोनों में खास चीन, हिन्दुस्तान से बड़ा है। पूरे देश की लगभग तीन चौथाई जनसंख्या खास चीन में पाई जाती है।

भारतवर्ष की तरह चीन भी कृषि-प्रधान देश है। हिन्दुस्तान से भी अधिक लोग खेती से अपनी जीविका कमाते हैं। परन्तु चीन की आबादी इतनी अधिक है कि अधिकांश किसानों के पास बहुत थोड़ी ज़मीन है और उनके खेत छोटे-छोटे हैं। १०० माऊ से अधिक भूमि वाले किसान चीन में केवल ५ प्रतिशत हैं। इसी लिये चीन के किसान हिन्दुस्तान के किसानों की तरह ग़रीब हैं। चावल, गेहूँ, जौ, बाजरा, सोयाबीन, जूट, चाय, गन्ना और तरकारियों की प्रधान उपज है। कृषि के बाद रेशम का व्यवसाय चीन निवासियों का प्रधान व्यवसाय है। रेशम का काम अधिकतर दक्षिण और मध्य चीन में होता है। चीन के बड़े-बड़े नगर या तो समुद्रतट के बन्दरगाह हैं अथवा व्यवसायिक केन्द्र हैं जो अधिकांश नदियों के किनारे बसे हुये हैं। आज भी चीन का अशिकांश व्यवसाय नदियों से होता है।

चीन की भूमि विभिन्न खनिज पदार्थों से भरी हुई है। कोयला, लोहा, तांबा, टिन, मैगनीज़, पारा और पेट्रोल चीन के प्रधान खनिज हैं। विशेषज्ञों का अनुमान है कि यदि चीन में वैज्ञानिक ढंग पर खनिज पदार्थों की खोज की जाय तो चीन खनिज पदार्थों की उपज में संसार के प्रधान देशों में समझा जायगा।

राजनैतिक विभाग

राजनैतिक दृष्टिकोण से चीन २८ प्रान्तों में विभक्त है, जिनमें से १७ प्रान्त केवल खास चीन में हैं। तिब्बत और बाहरी मंगोलिया दो स्वतन्त्र भाग है। इसके अतिरिक्त चीन में कई ऐसे स्थान हैं जो पुरानी संधियों के आधार पर अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र बना

लिये गये हैं। इन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों पर चीन सरकार का नियन्त्रण नाम मात्र का है।

निवासी

रूस और भारत वर्ष की तरह चीन भी विभिन्न जातियों का एक अजायब घर है। प्राचीन काल से लेकर आज तक विभिन्न जातियाँ मध्य एशिया से आकर चीन के विभिन्न भागों में बसती गयीं और उन्होंने चीन को अपना घर बनाया। चीन में आज भी कई ऐसे वर्ग हैं जो अपना पृथक अस्तित्व कायम किये हुये है पर उनमें से अधिकांश चीन की प्रधान धारा में इस तरह मिल-घुल गये हैं कि उनके बीच स्थिति अन्तर को जान लेना एक विदेशी के लिये सम्भव नहीं। चीन में आज मुख्यत: छ विभिन्न जातियों का नाम लिया जाता है। जो इस प्रकार हैं।

(१) हान (२) मिआयो (३) मंचू (४) मोंग अथवा 'मंगोलियन' (५) हुई अथवा मुसलमान (६) तिब्बती।

हान जाति चीन की प्रधान और सबसे पुरानी जाति है। चीन का इतिहास और उसकी संस्कृति प्रधानत: हान जाति की देन है। हान लोग चीन के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

मिआयो जाति के लोग भी एक प्राचीन जत्थे के हैं, पर हान जाति के समान वे प्रगतिशील नहीं है। ये लोग अधिकांश दक्षिण पश्चिम के पहाड़ी प्रान्तों में रहते हैं।

मंचू जाति के लोग पहले मंचूरिया में थे, पर आज उनका कोई पृथक अस्तित्व नहीं है। वे हान लोगों में घुल मिल गये है।

मंगोलों का आदि निवास स्थान मंगोलिया था। आज भी मंगोल जाति के लोग अधिकांश मंगोलिया में पाये जाते हैं। मंगोलों की संख्या अधिक न थी और अन्य लोगों की तरह ये भी हान लोगों में मिल गये।

हुई या मुसलमान अधिकांश चीन के सिकियांग प्रान्त में

रहते हैं। ये लोग बाहर से आये, पर सदियों पहले ये चीन की प्रधान जाति में मिल गये और आज अन्य जातियों की तरह वे भी चीन के बासिन्दे समझे जाते हैं। तिब्बती लोग अपने देश तिब्बत में रहते है पर इनकी संख्या अधिक नही हैं।

सभ्यता और इतिहास

चीन की सभ्यता संसार की प्रायः प्राचीनतम सभ्यता है। चीन के लोग अपने देश के वैज्ञानिक उत्कर्ष पर गर्व करते है। उनका दावा है कि विज्ञान का विकास सबसे पहले उन्हीं के देश में हुआ। ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व चीन में वास्तुकला, धातुविद्या, राजगीरी, बढ़ईगीरी, प्राणि शास्त्र और बनस्पति विज्ञान की शिक्षा दी जाने का प्रमाण मिलता है। इसी काल में संगीत, धनुर्विद्या लेखनकला, गणित आदि के प्रचार का भी उल्लेख आया है। इसके अतिरिक्त चीन में कम्पास, कागज, मुद्रण और बारूद के आविष्कार भी सब से पहले हुये है। ये प्राचीन वैज्ञानिक आविष्कार और कला इस बात के प्रमाण हैं कि चीनी लोग उस समय भी सभ्यता और सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करते थे जिस समय पाश्चात्य सभ्यता का कहीं नामो-निशान भी नहीं था। चीन के लोग भारतीय सभ्यता की प्राचीनता और उसके सांस्कृतिक ऋण को स्वीकार करते है, किन्तु दोनों देशों में अन्तर यह है कि जहाँ भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और उसकी सभ्यता का प्रायः लोप सा हो गया है; वहाँ चीन के इतिहास का क्रम अटूट रूप से हमारे सामने है। पौराणिक काल को छोड़कर चीन का इतिहास पाँच हजार वर्षों से ऊपर का इतिहास है। ईसा से २७६७ वर्ष पहले चीन का क्रमबद्ध इतिहास आरम्भ हो जाता है। इसके पहले भी चीन में सम्राटों का उल्लेख आया है, पर उनमें से अधिकांश पौराणिक हैं। "पीत सम्राट" के पहले चीन छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, जो प्रायः आपस में लड़ा करते

थे। इसने देश के विभिन्न भागों को जीत कर एक शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाली। इस प्रकरण में चीन के पाँच सहस्र वर्षों के इतिहास की रूप रेखा का उल्लेख करना भी कठिन है। अधिक से अधिक यहाँ उन राजवंशों के नाम का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने क्रमशः चीन में राज्य किया है। उनकी तालिका इस प्रकार है:—

पीत सम्राट (हुआंग टी)		
पीत सम्राट उत्तराधिकारी	२५६७	२३५८ ई० पू०
यूशुन वंश ..	२३५७	२२०६ ई० पू०
हसिअ वंश ...	२२०६	१७६६ ई० पू०
शांक वंश	१७६६	११२२ ई० पू०
चाऊ वंश	११२२	२४६ ई० पू०
चीन वंश	२४६	२०७ ई० पू०
हान वंश	२०६ ई० पू०	२१९ ई०
सानकाऊ वंश	२२०	२६४ ई०
लिआँग टसिन वंश	२६५	४१९ ई०
उत्तर और दक्षिण वंश	४२०	५८१ ई०
सूई वंश	५८१	६१८ ई०
टाँग वंश	६१८	९०७ ई०
बूटाई वंश	९०७	९६० ई०
सुंग वंश	९६०	१२७९ ई०
युवन वंश (मंगोल)	१२७९	१३६७ ई०
मिंग वंश	१३६८	१६४३ ई०
चिंग वंश अथवा मंचू वंश	१६४४	१९११ ई०
प्रजातंत्र ...	१९१२ ई०	

१८ वीं सदी के प्रारम्भ में चीनी साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। फिर भी सन् १६४४ ई० में जिस समय मंचू वंश की

स्थापना हुई उस समय नैपाल, भूटान, आसाम, बर्मा, श्याम आदि देश चीन के आधिपत्य में थे। किन्तु १८ वीं सदी के आरम्भ में ही चीनी साम्राज्य की स्थिति बिगड़ने लगी। शासन की बागडोर ढीली पड़ गयी और साम्राज्य के अनेक प्रान्तों में सम्राट के शासन के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ हो गया। विदेशियों की गृद्ध-दृष्टि भी चीन पर पड़ी और उसकी कमजोरी से उन्होंने लाभ उठाना चाहा। चीनी साम्राज्य इतना शक्तिहीन हो चला कि उसे छोटे-छोटे राज्यों से भी हार माननी पड़ी। सन् १८४० में अफ़ीम की लड़ाई में चीन अंग्रेज़ों से हार गया। सन् १८६० ई० में ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाओं ने पेकिंग शहर को बरबाद कर दिया। सन् १८६५ ई० में जापान ने फारमूसा को ले लिया। कोरिया एक अलग स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। चीन की मर्यादा जाती रही। उसके प्रमुख बन्दरगाहों पर विदेशियों का अधिकार हो गया। देश में मंचू वंश की प्रतिष्ठा कम होने लगी और उसके निकम्मे शासन के विरुद्ध एक बृहद् जन-आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। सन् १६११ की जन क्रान्ति की धारा में मंचू वंश सदा के लिये विलीन हो गया और एक वर्ष बाद चीन प्रजातंत्र घोषित किया गया।

चीन का जन-आन्दोलन

जिस जन-आन्दोलन के फलस्वरूप चीन में प्रजातंत्र स्थापित हुआ उस क्रान्ति के मूल में डाक्टर सुनयातसन का प्रयत्न था जो आज स्वतंत्र चीन के पिता कहे जाते हैं। सुनयातसन एक क्रान्तिकारी युवक थे। उन्होंने डाक्टरी शिक्षा प्राप्त की, पर अधिक दिन तक वह इस पेशे में न रह सके। देश में मंचू शासन के विरुद्ध जो भावनाएँ जागृत हो रही थीं, उन्हीं भावनाओं की लहर में क्रान्तिकारी सुनयातसन भी बह चले। लड़कपन का इनका नाम बाईचिआंग था। राजनीति में पदार्पण करने के बाद इन्होंने अपना नाम सुनयातसन रखा जिसका

अर्थ है, "स्वच्छन्द आत्मा" डाक्टर सुनयातसन ने पहले शान्तिमय और वैधानिक ढंग पर शासन सुधार के लिए प्रयत्न किया। उन्होंने एक शिक्षा समिति, (Education Society) की स्थापना की और चीनी सरकार से देश में कृषि-स्कूल खोलने का अनुरोध किया। चीन की सरकार ने उनके सुझावों की ओर कोई ध्यान न दिया, प्रत्युत उनकी शिक्षा समिति को सन्देह की दृष्टि से देखा। डाक्टर सन और उनके साथियों को अब विश्वास हो गया कि शान्तिमय ढंग पर देश के शासन को सुधारा नहीं जा सकता। डाक्टर सन डाक्टरी पेशा छोड़ कर राजनीति में कूद पड़े और मंचू वंश को उखाड़ फेंकने की योजना बनाने लगे। खुल कर विद्रोह करना तो सम्भव न था, अतएव क्रान्तिकारियों ने छिपकर सशस्त्र विद्रोह की तैयारी की। हांगकांग से शस्त्र मँगाये गये, परन्तु अधिकारियों को षड्यंत्र का पता लग गया और सब के सब पकड़ लिये गये। डाक्टर सन किसी तरह भाग कर होनोलूलू पहुँचे। इस बार उन्होंने प्रगतिशील चाइनीज़ सोसाइटी (Progressive Chinese Society) क निर्माण किया। प्रवासी चीनियों ने डाक्टर सन के कार्य में पूरा सहयोग दिया। सन १८९६ में डाक्टर सन अमेरिका पहुँचे और वहाँ भी उनके देशवासियों ने सहायता का वचन दिया। शस्त्रास्त्र इकट्ठा करने के विचार से डाक्टर सन न्यूयार्क से लन्दन जा रहे थे कि चीनी गुप्तचरों ने उनको पकड़ लिया। पर इस बार भी एक अंग्रेज मित्र की सहायता से डाक्टर सन बच गये। सन् १९०० ई० में सिंगापुर से एक दूसरे विद्रोह की तैयारी की गयी। क्रान्तिकारियों का दल चीन के लिए रवाना हुआ। परन्तु इनके चीन मे उतरने से पहले ही अधिकारियों को पता लगा और क्रान्तिकारियों का दल तितर-बितर हो गया। सन् १९०५ और १९०७

में फिर विद्रोह की तैयारियाँ की गयीं, परन्तु दोनों बार विद्रोह असफल रहा। इन असफलताओं से डाक्टर सन को किसी प्रकार की निराशा न हुई। उनको अपनी अन्तिम सफलता पर विश्वास बना रहा और उन्होंने अपने प्रयत्नों में किसी तरह की ढिलाई न की। देश में और देश के बाहर वह अपने साथियों और समर्थकों को तैयार करते रहे। अगले मोर्चे के लिए तैयारियाँ होने लगी और विभिन्न स्थानों पर अस्त्र-शस्त्र भी बनने लगे। सहायता के लिए डाक्टर सन फिर अमेरिका गये। वह अमेरिका में ही थे कि सन् १९१० में हांगकाऊ में विद्रोह आरम्भ हो गया। इस बार सम्राट की सेना की कुछ टुकड़ियों ने भी क्रान्तिकारियों का साथ दिया। ग्यारह सूबों ने मंचू शासन की मान्यता को अस्वीकार कर दिया। डाक्टर सन अमेरिका से संघाई पहुँचे। तब तक मंचू वंश के विरुद्ध लड़ाई बहुत कुछ समाप्त हो चुकी थी। सन् १९१२ में चीन प्रजातंत्र घोषित हुआ और डाक्टर सन उसके प्रथम राष्ट्रपति चुने गये।

विप्लव और अशान्ति

प्रजातंत्र सरकार अपनी स्थिति को सँभाल भी न सकी थी कि राष्ट्रीय दल और जनरल चुआनशिक काई के बीच मतभेद आरम्भ हो गया। जनरल शिककाई उत्तर चीन का एक ख्याति प्राप्त सेनानायक था। मंचू शासन के विरुद्ध उसने राष्ट्रीय दल और डाक्टर सन का साथ इस आशा में दिया था कि प्रजातंत्र घोषित होने पर वह चीन का राष्ट्रपति बनाया जायगा। डाक्टर सन के राष्ट्रपति चुने जाने के बाद उसे निराशा हुई और उसने विद्रोह की धमकी दी। स्थिति को बिगड़ते देख डाक्टर सन ने अपूर्व त्याग का परिचय दिया। स्वयं राष्ट्रपति के पद से हटकर जनरल शिककाई को चीन का राष्ट्रपति बनाया। राष्ट्रवादियों को विश्वास हो गया कि अब शिककाई सन्तुष्ट हो जायगा।

परन्तु शिककाई ने देश को धोखा दिया। प्रजातंत्र के विधान को ठुकरा कर उसने अपने को चीन का सम्राट घोषित किया। देश के सामने एक महान संकट आ पड़ा। देश को इस संकट से बचाने के लिये डाक्टर सन ने सन् १९१४ में चीनी क्रान्तिकारी दल (चुंगहुआ केमिंग तांग) की स्थापना की और शिककाई से लड़ने के लिए तैयार हो गये। दक्षिण-चीन में भी उसके विरुद्ध विद्रोह की आग भड़क उठी। शिककाई को अपने किये का फल शीघ्र मिल जाता, परन्तु इसी बीच सन् १९१६ में इश्वरेच्छया उसकी मृत्यु हो गयी और चीन का एक संकट टला। कुछ लोगों का कहना है कि उसने ज़हर खा लिया।

शिककाई की मृत्यु के बाद देश में शान्ति स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया गया, पर स्थिति बिगड़ती गई। चीन के सैनिक सामन्तों ने (War Lords) प्रजातंत्र सरकार के विरुद्ध युद्ध जारी रखा और कई स्थानों में मंचू वंश को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। उत्तर चीन में इन सामन्तों की संख्या बढ़ती गयी और उन्हें दबाने के लिये केन्द्रीय सरकार को अपनी पूरी शक्ति लगा देनी पड़ी। फिर भी गृह-युद्ध न रुक सका। दक्षिणी सूबे भी राष्ट्रीय सरकार का विरोध करते रहे। देश में चारों ओर उपद्रव और अशान्ति का राज्य हो गया। इधर जब देश की यह दशा थी और उसकी शक्ति परस्पर विरोधी पक्षों में विभाजित हो चली थी, सन् १९१५ में जापान ने देश पर चढ़ाई कर दी। जापानी सेनाओं ने काऊ चाऊ खाड़ी और चीन की काव रेलवे पर अधिकार कर लिया। इस बाह्य-संकट से बचने के लिये शिककाई ने जापान से गुप्त संधि कर ली, जिसमें उसने जापान की २१ अपमान जनक और घातक शर्तों को मान लिया। चीन में जापान के शोषण को देख कर पश्चिम के साम्राज्यवादियों की नीयत भी बिगड़ गयी। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड,

आदि देशों ने चीन की दयनीय स्थिति से लाभ उठाना चाहा। योरप के कई एक राष्ट्रों ने तो केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध चीनी सामन्तों को भड़काया और उन्हें अस्त्र-शस्त्र की भी सहायता दी। सन् १६२१ तक चीन के प्रश्न को लेकर जापान और पश्चिम के साम्राज्यवादी देशों में होड़ सी लग गयी और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिये यह आवश्यक हो गया कि चीन के सम्बन्ध में कोई समझौता हो जाय। स्थिति को बिगड़ते देख अमेरिका के निमंत्रण पर जुलाई सन् १६२१ में वाशिंगटन सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में पूर्व और पश्चिम के ६ राष्ट्रों ने भाग लिया। नवराष्ट्र सम्मेलन ने चीन की राष्ट्रीय स्वतंत्रता को स्वीकार किया, परन्तु साथ ही इस सम्मेलन ने यह भी निश्चय किया कि चीन के व्यवसाय में हर राष्ट्र को बराबर अधिकार होंगे। चीन के लोग इन साम्राज्यवादी चालों को समझ रहे थे, पर वे विवश थे। वे जान गये कि देश को शक्तिशाली बनाये बिना वे अपनी कठिनाइयों से पार नहीं पा सकते। चीन में सैनिक सामन्तों के रहते शान्ति नहीं हो सकती थी। उनके उन्मूलन के लिये डाक्टर सन ने अपने क्रान्तिकारी दल को फिर से संगठित किया और उसका नाम बदल कर "चीनी राष्ट्रीय दल" अथवा चुंग कुमिंगतांग रखा। कुमिंगतांग इसी दल का प्रचलित नाम है। सन् १६२३ में कैन्टन में डाक्टर सन की अध्यक्षता में एक सैनिक सरकार की स्थापना की गयी। अपूर्व उत्साह के साथ राष्ट्रीय सेना ने देश में शान्ति स्थापित करने का कार्य आरम्भ किया और दो वर्ष के भीतर उसे बहुत कुछ सफलता भी मिली। परन्तु इसी बीच सन् १६२५ में डाक्टर सन इस संसार से चल बसे। शोकाकुल चीन चारों ओर फिर अशान्ति से घिर गया। डाक्टर सन की मृत्यु के बाद कुमिंगतांग ने वांगचिंग की को प्रधान सेनापति घोषित किया, पर स्थिति काबू में न आ सकी। अन्त में सन्

१९२६ में एक अखिल चीनी काँग्रेस बुलायी गयी जिसमें जनरल चॉगकाई शेक को चीन का प्रधान सेनापति बनाया। चांगकाई शेक ने राष्ट्रीय सेना का पुनर्संगठन किया और उनके दो वर्ष के अनवरत प्रयत्न के बाद समस्त देश राष्ट्रीय सरकार के आधिपत्य में आ गया। स्वतंत्र सैनिक सामन्त परास्त हुए। सैनिक सामन्तों का उन्मूलन चीन के इतिहास की अपूर्व घटना है। परन्तु प्रजातंत्र के भाग्य में शान्ति न बदी थी। सैनिक सामन्तों का संकट ज्यों ही दूर हुआ, कम्यूनिस्टों के साथ संघर्ष आरम्भ हो गया। इतना ही नहीं, इसी समय चीन को जापानी हमले का भी सामना करना पड़ा।

चीन-जापान युद्ध

जिस समय चीन की राष्ट्रीय सेना उत्तर में सैनिक सामन्तों के परास्त करने में लगी हुई थी, जापानी सेनाओं ने एक बहाना ढूढ़ कर शान्टंग सूबे पर आक्रमण कर दिया। शान्टंग की राजधानी को उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया। इस जापानी आक्रमण के मूल में जापान की साम्राज्यवादी नीति थी। यह कभी नहीं चाहता था कि चीन एक शक्तिशाली राष्ट्र बन जाय। उत्तर-पूर्व के सूबों का राष्ट्रीय सरकार के नियंत्रण में आ जाना जापान को अच्छा न लगा। राष्ट्रीय सेना की प्रगति से जापानियों को भय हो गया कि कहीं सारा चीन एक शासन सूत्र में न बँध जाय। चीन ने जापानी हमले को रोकने के लिए राष्ट्र संघ में अपील की। राष्ट्र संघ ने जापानी हमलों की निन्दा की और जापान से अनुरोध किया कि वह अपनी सेनाएँ चीन से हटा ले। पर यथार्थ यह था कि पश्चिम का कोई भी राष्ट्र जापान से झगड़ा मोल न लेना चाहता था। ब्रिटेन ने तो जापान को सन्तुष्ट रखने के लिए उसके पक्ष का समर्थन किया। ऐसी स्थिति में राष्ट्र संघ चीन के मामले में मौखिक अनुरोध से आगे न बढ़ सका।

सन् १६३१ में यांगटिसी में भयानक बाढ़ का लाभ उठाकर जापानी सेनाओं ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया और वहां "मान्चूको" नाम का "स्वतंत्र" राष्ट्र स्थापित किया। पर इतने से जापान की साम्राज्यवादी लिप्सा तृप्त न हुई। सन् १६३७ में अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिं का लाभ उठा कर उसने चीन पर आक्रमण कर दिया। इस बार चीन और जापान के बीच जो युद्ध आरम्भ हुआ वह किसी न किसी प्रकार सन् १६४४ में जापान के आत्म-समर्पण के समय तक चलता रहा। जापान के साथ इस तेरह वर्षीय युद्ध में चीन की दुर्गति हो गयी और देश बर्बाद हो गया। भयंकर जन-संहार के साथ-साथ चीन का एक बहुत बड़ा भाग भी जापानियों के हाथ में चला गया। सुदूरपूर्व में युद्ध छिड़ने से पहले चीन के लगभग दो तिहाई भाग पर जापान का अधिकार हो गया था। समुद्र-तट के नगर और बन्दरगाह जापान के अधिकार-क्षेत्र में आ जाने से पूर्व की ओर से चीन का आना-जाना भी बन्द हो गया। परन्तु इस संकट में चीन की जनता ने धैर्य न छोड़ा। कुमिंगतांग और कम्युनिस्ट संघर्ष को स्थगित कर चीनी जनता अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिये अपूर्व बलि-दान के लिए तैयार हो गयी। चीन की सेनाएँ जापानी सैनिक शक्ति का मुक़ाबला नहीं कर सकती थीं। तथापि उन्होंने घुटने न टेके और जापान को चैन न लेने दिया। चीन-जापान युद्ध का एक दुखद प्रकरण यह है कि आरम्भ में तो पाश्चात्य देशों ने जापान का समर्थन किया और छिप-छिप कर उसकी सहायता भी करते रहे। सन १६४० में अंग्रेजों ने बर्मा-रोड को बन्द कर दिया। बर्मा रोड के बन्द होने पर चीन को अमेरिका से जो कुछ सहायता मिलती थी वह भी बन्द हो गयी। चीन के लिए एक महान् संकट उत्पन्न हो गया, परन्तु चीनियों ने तब भी सर न झुकाया और गुरिल्ला नीति का अनुसरण कर जापानियों से

लड़ते रहे। सन् १६४१ में जब जापान ने सुदूरपूर्व में मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तब ब्रिटेन और अमेरिका की आँखें खुलीं और वे चीन के सहायक बन गए। बर्मा-रोड फिर खुली और चीन के सहायतार्थ ब्रिटिश अमेरिकन सेनाये चीन पहुँचीं। इसी समय से जापान के विरुद्ध चीन के युद्ध को मित्र राष्ट्रों ने अपना युद्ध बना लिया और सन् १६४४ में उन्हीं की सैनिक शक्ति के बल पर जापान की सेनायें चीन से हटीं और चीन जापान युद्ध समाप्त हुआ। चीन अथवा पूरे सुदूरपूर्व में जापान की पराजय का श्रेय मित्र-राष्ट्रों को है, पर साथ ही साथ इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि जापान द्वारा चीन की दुर्गति और बर्बादी का बहुत कुछ उत्तरदायित्व भी इंगलैंड और दूसरे मित्र राष्ट्रों पर है।

चीन का गृह-युद्ध

जर्मनी और जापान को पराजय के बाद संसार में प्रायः सर्वत्र युद्ध बन्द हो गया। पर अभागे चीन के भाग्य में अब भी शान्ति न बदी थी। जापानी हमले की चोट अभी भर भी न पाई थी कि देश में गृह-युद्ध की ज्वाला पुनः भभक उठी। कुमिंगतांग और कम्यूनिस्ट संघर्ष, जो चीन जापान युद्ध के आरम्भ में स्थगित हो गया था, युद्ध समाप्त होते ही फिर उठ खड़ा हुआ। डाक्टर सुनयातसन के जीवनकाल में कम्यूनिस्टों ने राष्ट्रीय सरकार और कुमिंगतांग से सहयोग किया। पर डाक्टर सन की मृत्यु के बाद कुमिंगतांग और उनके बीच नीति सम्बन्धी मतभेद उत्पन्न हो गये। सोवियट रूस की नीति से प्रभावित होकर सन् १६२७ में चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी ने कुमिंगतांग का खुल कर विरोध किया और उसी वर्ष चीन का गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। कम्यूनिस्टों का ज़ोर उत्तर चीन के कियांगसी प्रान्त में बढ़ा और उन्होंने वहां "चीन की सोवियट सरकार" की

स्थापना की। किन्तु चीन की सोवियट सरकार अधिक दिन तक न टिक सकी। कम्यूनिस्ट शीघ्र ही पराजित हुये और ऐसा जान पड़ा कि कम्यूनिस्ट अब सर न उठाएँगे। परन्तु कुछ ही महीनों में उन्होंने फिर अपना संगठन कर लिया और संघर्ष पुनः आरम्भ हो गया। चीन के कम्यूनिस्टों के पीछे सदैव रूस का हाथ रहा है। सोवियट सरकार बराबर चीनी कम्यूनिस्टों को आर्थिक और सैनिक सहायता देकर नानकिन सरकार के विरुद्ध युद्ध करने को प्रोत्साहित करती रही है। चीन के कम्यूनिस्टों को यदि केवल अपने बल पर नानकिन सरकार से लड़ना होता तो सम्भवतः चीन का गृह-युद्ध अधिक दिन तक न चलता। पर सोवियट रूस की सहायता से चीन की कम्यूनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय सरकार से बराबर मोर्चा लेती रही। सन् १६२७ से लेकर १६३७ के आरम्भ तक कुमिंगतांग-कम्यूनिस्ट संघर्ष चलता रहा। इसी वर्ष जुलाई में जापान ने चीन पर चढ़ाई कर दी। जापान से युद्ध छिड़ जाने पर भाग्यवश दोनों पक्षों ने संघर्ष स्थगित कर दिया और जनरल चांग काई शेक जो कुछ ही दिन पहले कम्यूनिस्टों द्वारा पकड़ लिये गये थे, कैद से छोड़ दिये गये। विदेशी हमले के समय पारस्परिक झगड़े को स्थगित कर देना और जनरल चांग काई शेक को जीवित कैद से छोड़ देना चीन के आधुनिक इतिहास की दो महत्वपूर्ण घटनायें हैं। ये घटनाएँ चीनी जाति की महत्ता और उसकी यथार्थवादिता की परिचायक हैं।

सन् १६३७ से लेकर जापान के आत्म-समर्पण के एक वर्ष बाद तक कुमिंगतांग कम्यूनिस्ट-संघर्ष बन्द रहा। लगभग १० वर्ष तक मिलकर साथ काम करते रहने के बाद चीन में अधिकांश लोगों को विश्वास सा हो गया कि महासमर के बाद देश में पुनः गृहयुद्ध न होगा, पर घटनाचक्र कुछ दूसरी ही दिशा की ओर चल रहा था। सुदूरपूर्व में युद्ध ज्यों ही समाप्त हुआ, कुमिंगतांग-

कम्यूनिस्ट संघर्ष के लक्षण स्पष्ट हो गये। चीन के इस द्वितीय गृह युद्ध के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय स्वार्थों की एक लम्बी कहानी है, जिसका आरम्भ विगत महासमर के अन्तिम चरण में हुआ। जर्मनी की पराजय के बाद ब्रिटेन और अमेरिका ने रूस को जापान के विरुद्ध युद्ध में ले आना चाहा। इसी उद्देश्य से सन् १९४५ में माल्टा में ब्रिटेन, अमेरिका और रूस के बीच एक गुप्त समझौता हुआ। जापान के विरुद्ध युद्ध में आने के लिए रूस की ओर से कुछ शर्तें रखी गयीं जिनका सम्बन्ध अधिकांश चीन से था। माल्टा में ब्रिटेन और अमेरिका ने यह स्वीकार किया कि (१) बाहरी मंगोलिया पर चीन का अधिकार न होगा, (२) मंचूरिया में रूस का अधिकार उस रूप में होगा जैसा सन् (१९०४–५) के पहले था और (३) दक्षिणी सखालिन और क्यूराकल के टापू रूस को लौटा दिये जायेंगे। चीन के लोगों को इस संधि के विषय में कुछ भी न बतलाया गया। इस संधि का रहस्य उस समय खुला जब जापान की पराजय के बाद रूसी सेनाओं ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया और उत्तर-चीन में कम्यूनिस्टों ने अपना संगठन पुनः आरम्भ किया। माल्टा में तो अमेरिका और ब्रिटेन ने रूस की चीन सम्बन्धी शर्तों को मान लिया था, पर युद्ध के बाद चीन में रूसी प्रभाव को बढ़ते देख अमेरिका और ब्रिटेन सशंकित हो उठे। घबरा कर अमेरिका ने चीन और रूस के बीच सन्धि कराने के लिए जनरल मार्शल को भेजा। अगस्त सन् १९४५ में सोवियत चीन सन्धि हुई, जिसके अनुसार रूस ने मंचूरिया से अपनी सेनाओं का हटा लेना स्वीकार किया। जनरल मार्शल के प्रयत्न से अगस्त सन् १९४६ में कुमिंगतांग और चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी के बीच भी एक सन्धि हुई, पर यह क्षणिक सिद्ध हुई। इस सन्धि का लाभ उठाकर चीनी कम्यूनिस्टों ने अपनी सेनाओं को उत्तर की ओर भेज दिया और मंचूरिया से ज्यों ही रूसी सेनाएँ हटीं, चीनी लाल

सेनाओं ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। फिर क्या था ? १८ वर्ष का स्थगित गृहयुद्ध पुनः आरम्भ हो गया। इस युद्ध का उत्तरदायित्व अमेरिका, ब्रिटेन और उसके बाद रूस पर है। अमेरिका और ब्रिटेन का उत्तरदायित्व यों है कि माल्टा में गुप्त समझौता कर के इन्होंने रूस को चीन में कम्युनिस्ट संगठन करने का अवसर दिया। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए इन्होंने चीन के हित का तनिक भी ध्यान न दिया। रूस का उत्तरदायित्व यह है कि माल्टा समझौते की आड़ में रूस ने पूरे चीन को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आने का प्रयत्न और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए चीनी कम्यूनिस्टों को केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध लड़ने के लिए हर प्रकार की सहायता दी। आन्तरिक दृष्टि से चीन का गृह-युद्ध कुमिङ्ताङ्ग और कम्युनिस्ट पक्षों के बीच विरोधी आदर्शों और-स्वत्त्वों का युद्ध है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से यह युद्ध सुदूर पूर्व में रूस और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा का एक विस्फोटक है। रूस चीन को अपने प्रभाव क्षेत्र में रखकर सुदूर-पूर्व में अमेरिका की कूटिनीति से अपने को सुरक्षित रखना चाहता है। अमेरिका चीन को अपने प्रभाव क्षेत्र में रखकर सुदूर-पूर्व में रूसी प्रसार को रोकने के प्रयत्न में रहा है। अतएव यह स्पष्ट है कि चीन में जब तक ये विश्व-शक्तियाँ हस्तक्षेप करती रहेंगी, तब तक वहाँ शान्ति नहीं हो सकती।

आज गृह-युद्ध की स्थिति यह है कि देश में दो शासन स्थापित हो चले हैं। कुछ महीने पहले तक अधिकांश चीन चाङ्गकाई शेक की राष्ट्रीय सरकार के अन्तर्गत था। किन्तु चीनी गृह-युद्ध का पाया आज पलट चुका है। राष्ट्रीय सरकार की स्थिति डावाँडोल है। चाङ्गकाईशेक ने शासन का भार रख दिया है! कम्युनिस्ट सेनाएँ प्रबल वेग के साथ आगे बढ़ रही हैं। उत्तर और मध्य-चीन का अधिकांश भाग उनके नियंत्रण में है। मजदूर और गरीब तबके

के लोग उनके साथ हैं। प्रायः पूछा जाता है कि चीन में कम्युनिस्ट इतने वेग से क्यों बढ़ रहे हैं ? चीन के लोग कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के कायल नहीं हैं। किन्तु वे युद्ध से ऊब गये हैं। युद्ध-जनित कठिनाइयों ने उनके धैर्य की सीमा को तोड़ डाला है। वे किसी भी मूल्य पर शान्ति चाहते हैं। भूख, मँहगाई, नफ़ाखोरी, भ्रष्टाचार और मुद्रा स्फोत के कुपरिणामों से बचने के लिए उनके निकट साम्यवाद के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं दिखलाई पड़ता। राष्ट्रीय सरकार स्थिति को सुधार सकेगी इसका विश्वास चीन में थोड़े ही लोगों को है। यही कारण है कि धनकुबेर अमेरिका की सहायता पाकर भी राष्ट्रीय सरकार स्थिति को सँभालने में असमर्थ हो रही है। किसी भी पक्ष की विजय हो जर्जरित चीन युद्ध से त्राण चाहता है।

चीनी धर्म और संस्कृति

चीनियों की धर्म-सम्बन्धी धारणा भारतवासियों की तत्सम्बन्धी धारणा से भिन्न है। हमारे देश में धर्म एक व्यापक वस्तु समझा जाता है। धर्म व्यक्ति की धारणा ही नहीं एक सुदृढ़ सामाजिक बन्धन भी है। धर्म हमारे अधिकांश सामाजिक सम्बन्धों को ढक लेता है। रोटी-बेटी आदि महत्वपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों की सीमाएँ तो विशेष रूप से धर्म द्वारा निर्धारित होती रही हैं। यही कारण है कि भारतवर्ष में जितने धर्म हैं उतने ही अलग-अलग समाज हैं। चीन में धर्म का इतना व्यापक अर्थ नहीं लिया जाता। चीनी संस्कृति में धर्म प्रधानतः व्यक्ति की वस्तु समझा जाता है। धर्म आत्मा की तृप्ति का एक साधन है। जिस धर्म से हमारी आध्यात्मिक तृप्ति हो वही हमारे लिए श्रेष्ठ धर्म है। यही कारण है कि चीन में कभी-कभी एक ही परिवार में विभिन्न धर्मों के अनुयायी पाये जाते हैं। ऐसा देखा गया है कि एक भाई

१—चीनी कम्यूनिस्ट सरकार के अध्यक्ष माओ-त्से-तुंग
२—मार्शल चाङ्ग-काई शेक
३—चीन के मनु, महात्मा कन्फ्यूसिअस
४—हो-ची मिन्ह, हिन्द चीन के राष्ट्रीय नेता
५—चीनी प्रजातन्त्र के राष्ट्रपिता, डाक्टर सन-यात-सन ।

बौद्ध धर्म को मानता है तो दूसरा कनफ्यूसियस का अनुयायी है और तीसरा ईसाई है। अतएव इसमें आश्चर्य ही क्या कि चीन में धर्म के नाम पर प्रायः कभी युद्ध नहीं हुआ है। धर्म का जो अर्थ चीन में लगाया जाता है, यदि वैसा ही अर्थ हमारे देश में लगाया गया होता तो आज देश के बँटवारे की नौबत न आती और धर्म के नाम पर जो कुछ हुआ है वह न होता।

चीनी संस्कृति की यह विशेषता है कि धर्म की विभिन्नता उसकी सामाजिक एकता को बिगाड़ नहीं सकी है। चीन के विभिन्न धर्मानुयायियों के बीच वह सामाजिक खाई नहीं है जो हम अपने देश में पाते है। चीन में मुख्यतः पाँच धर्मों के अनुयायी पाये जाते हैं। इन पाँच धर्मों में से तीन धर्म बाहर से आये हैं। बाहर से आने वाले बौद्ध, इस्लाम और ईसाई धर्म हैं। किन्तु बौद्ध धर्म चीन में इतने प्राचीन काल से है कि चीन के लोग उसे विदेशी धर्म नहीं समझते। चीन में इस्लाम के अनुयायियों की संख्या लगभग दो करोड़ है। ईसाई १० लाख से अधिक नही हैं।

कनफ्यूसियस (५५१–४७८ ई० पूर्व) का धर्म चीन का सबसे प्राचीन धर्म है। चीन में इस धर्म को 'यू जिओ' अथवा 'विद्वानों का धर्म' कहते हैं। आज भी चीन में इस धर्म के मानने वालों की संख्या सबसे अधिक है। कनफ्यूसियस चीन के मनु हैं। चीन को धर्म और नीति प्रदान करने वाले सर्व प्रथम ऋषि कनफ्यूसियस ही हैं। बुद्ध की तरह कनफ्यूसियस ने भी कर्तव्य-पालन और समाज-सेवा को सबसे बड़ा धर्म बतलाया। उनका कहना है कि मनुष्य को अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये। शेष सब ईश्वर पर छोड़ देना चाहिये। मनुष्य दैवी प्रकोप से बच सकता है, किन्तु वह अपने कर्मों के अच्छे-बुरे फल से नहीं बच सकता। बुद्ध ने इसी सिद्धान्त को और भी स्पष्ट शब्दों में बतलाया है, 'आकाश में, जल में, पृथ्वी के किसी कोने में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ मनुष्य

अपने कर्मों के फल से अपने को बचा सकें'। कनफ्यूसियस के अनुयायियों के बाद चीन में बौद्ध धर्म के मानने वालों की संख्या अधिक है! चीनी भाषा में बौद्ध धर्म का नाम "शिवजिओ" है। आज देश में बौद्ध धर्म के प्रति वह आकर्षण नहीं है जैसा एक हजार वर्ष पहले था, तथापि चीनियों में बौद्ध धर्म के प्रति बड़ी श्रद्धा है। भारतीयों से मिलने पर वे बड़े चाव के साथ बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्थानों के विषय में पूछते हैं। देश के कई भागों में आज भी बौद्ध मठ देखने में आते है। चीन का तीसरा धर्म "तौजिओ" है। "तौजिओ" के प्रवर्तक चीन के प्रसिद्ध विद्वान और दार्शनिक लावतज़ थे। "तौजिओ" एक तांत्रिक धर्म है। इसके अनुयायी अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते हैं और जादू एवं तंत्र-मंत्र में विश्वास करते है। हान राजाओं के शासन काल (२०६ ई० पूर्व—२२१ ई०) में इस धर्म की चीन में विशेष उन्नति हुई। आज "तौजिओं" के अनुयायियों की संख्या कनफ्यूसियस और बौद्ध धर्मों के अनुयायियों की अपेक्षा बहुत कम है।

चीनी संस्कृति की एक दूसरी विशेषता यह है कि चीन में हर धर्म का अनुयायी पितृ-पूजा में विश्वास रखता है। पितृ पूजा चीन का राष्ट्रीय धर्म है। चीनी लोग अपने पूर्वजों के प्रति सच्ची श्रद्धा रखते हैं। वर्ष में एक बार वे अपने पूर्वजों की कब्रों पर जाकर उनकी स्मृति में उत्सव मनाते है। पितृपूजा चीन का एक महत्वपूर्ण उत्सव है।

पारिवारिक जीवन

चीन का पारिवारिक जीवन पाश्चात्य पारिवारिक जीवन की अपेक्षा भारतीय पारिवारिक जीवन से अधिक मिलता है। हमारे देश की तरह सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा चीन में भी पाई जाती एक परिवार में चार-चार और पाँच-पाँच पीढ़ियों तक के लोग

रहते देखे जाते हैं। परिवार का सबसे बड़ा बूढ़ा व्यक्ति (पिता अथवा पितामह) उसका मालिक होता है, सारा परिवार उसी के नियंत्रण में चलता और रहता है। पर पाश्चात्य विचारों की लहर में आज यह प्रथा ढीली पड़ रही है।

चीन के सामाजिक जीवन मे स्त्रियों को सम्मानित पद प्राप्त है। चीनी महिला अपने घर- गृहस्थी की मालकिन होती है। चीनी पति अपनी स्त्री का सम्मान और आदर करता है। घर के मामले में बहू का हुक्म चलता है। चीनी महिला के इस सम्मान का एक कारण यह है कि किसी समय चीन में वंश माता की ओर से चलता था। पर इस सम्मान का अर्थ यह नहीं है कि चीन की स्त्रियाँ स्वच्छन्द है। उनके जीवन में पुरुष का नियंत्रण हर अवस्था में रहता है। बाल्यावस्था में पिता, विवाह के बाद पति, और पति के न रहने पर पुत्र के नियंत्रण में रहती है। चीन में सहशिक्षा का प्रचार है। विश्वविद्यालयों में लड़के और लड़कियाँ एक साथ पढ़ते हैं। विश्वविद्यालय तक पहुँचते-पहुँचते अधिकांश लड़कों और लड़कियों का विवाह हो गया रहता है। अतएव चीन के विश्वविद्यालयों में दुराचरण अथवा व्यभिचार की घटनाएँ कम सुनने में आती हैं। आज चीनी स्त्री जीवन के हर एक क्षेत्र में पुरुषों के साथ होड़ लगा रही है। सरकारी नौकरियाँ उनके लिए खुली हुई है। स्त्रियाँ धारा सभा की सदस्या हैं, जज है, शासनकर्ता हैं और दूतावासों में काम करती है। फिर भी चीन की अधिकांश स्त्रियाँ आदर्श माता और पत्नी बनना अपना कर्तव्य समझती है। चीनी संस्कृति में स्त्रियों का पुरुषों से अधिक मिलना-जुलना अच्छा नहीं समझा जाता। जब स्त्री पुरुषों को अथवा पुरुष स्त्री को कोई वस्तु देता है, तो दोनों एक दूसरे के स्पर्श को बचाते हैं।

विवाह प्रथा

पश्चिमी देशों में प्रत्येक मनुष्य सैनिक होता है। किन्तु चीन में प्रत्येक मनुष्य पति होता है। विवाह चीन में एक पवित्र कार्य माना जाता है। विवाह कार्य कई दिनों में पूरा होता है। चीन में लड़के वाला लड़की के माँ-बाप के धन पर उतना आकर्षित नहीं होता जितना कि लड़की के गुणों पर। लड़के के गुणों में उसकी योग्यता और उसके धन, दोनों का विचार किया जाता है। ब्याह में जब दूल्हन की सवारी चलती है तो चीन के प्रधान मंत्री की भी सवारी रुक जाती है। दूल्हन जब पति के घर में प्रवेश करती है तो दूल्हा उसकी सवारी के पास जाकर उसको प्रणाम करता है। इसके उपरान्त अपने घर में प्रवेश कराता है। गृह में प्रवेश करते ही वर-वधू दोनों को दो प्यालों में थोड़ी-थोड़ी शराब दी जाती है। दूल्हा स्वयं पीता है। दूल्हन को उसकी सहेलियाँ पिलाती हैं। इसके बाद दोनों के प्यालों से थोड़ी-थोड़ी शराब एक दूसरे के प्याले में डाली जाती है, दोनों फिर पीते हैं। यह प्यार, एकरूपता और ब्याह की पूर्णता का द्योतक है। दूसरे रस्म-रिवाजों की तरह चीन की प्राचीन विवाह प्रथा भी पाश्चात्य प्रभाव के कारण बदल रही है। ब्याह के खर्च को लोग अनावश्यक समझ कर उसे घटा रहे हैं।

चीनी भाषा और साहित्य

चीनी सभ्यता की तरह चीन का साहित्य भी बड़ा वृहद् और प्राचीन है। चीनी भाषा का विश्वकोष सम्राट चिअन लंग (१७३१ ई० से १७६६ ई०) के शासन काल में बना था। उस समय चीनी भाषा की पुस्तकों की संख्या ७६५८२ थी। इसमें से धर्म-सम्बन्धी पुस्तकें १०,२५५, इतिहास २१९५०, दर्शन १७८७७ और साहित्य की २६,५०० पुस्तकें थीं।

स्वयं चीन के लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी

भाषा संसार की विचित्रतम और सम्भवतः कठिनतम भाषा है। हमारे प्रान्तों की तरह चीन के प्रान्तों की भी बोलियाँ अलग-अलग है। चीन में १२ प्रधान प्रान्तीय बोलियाँ है। कुछ प्रान्तों की बोलियाँ तो एक दूसरे से मिलती जुलती हैं, पर उत्तर और दक्षिण चीन की बोलियाँ इतनी भिन्न है कि उत्तर-चीन का निवासी दक्षिण-चीन के निवासी की बोली नहीं समझ सकता। परन्तु विचित्र बात यह है कि जहाँ भारतवर्ष की प्रान्तीय भाषाओं की लिपियाँ प्रायः अलग-अलग है, वहाँ पूरे चीन की लिखित भाषा एक ही है और हर प्रान्त के लोग उसी लिखित भाषा को पढ़ते और समझते है। चीन की लिखित भाषा की स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है जैसी मध्य कालीन योरप में रोमन भाषा की थी। चीन की इस भाषा को वहाँ का अशिक्षित व्यक्ति नहीं समझ सकता। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि चीनी बालकों की शिक्षा इसी भाषा में होती रही है। चीन की यह भाषा प्रायः पिछले दो हज़ार वर्षों से उसी रूप में रही है, जिस रूप में वह आज है। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। इस भाषा की कोई वर्णमाला नहीं है। अधिकांश शब्दों के लिये अलग-अलग आकृतियाँ है। इस भाषा को जीवित भाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आम बोलचाल में इसका प्रयोग नहीं होता। परन्तु मृतक होते हुए भी यह जीवित भाषा का काम करती आई है। चीन का पूरा इतिहास इसी भाषा में है। इतना ही नही सदियों से चीनी बालकों की शिक्षा भी इसी भाषा में होती रही है। उनकी पाठ्य पुस्तकें भी इसी भाषा में रही है। चीनी अध्यापक इस भाषा के अक्षरों का अनुवाद स्थानीय बोलचाल की भाषा में करके बच्चों को समझाते रहे है और बच्चे रटकर उसको हृदयंगम करते रहे हैं।

चीन की इस लिखित भाषा में सुधार करने और उसे वर्ण

बद्ध करने के लिए सुधारकों ने कई बार प्रयत्न किया है, पर इस अचल भाषा की प्राचीनता और कट्टरपंथियों का विरोध उनके मार्ग में बाधक सिद्ध हुए हैं। सन् १९१२ में प्रजातन्त्र की स्थापना के बाद देश में जब जागृति की लहर फैली तो लोगों का ध्यान भाषा के सुधार की ओर भी गया। इस बार यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि चीन का भावी साहित्य किस भाषा में हो, बच्चों को शिक्षा किस भाषा में दी जाय। सुधारवादियों ने चीन की प्राचीन भाषा का विरोध किया कि वह मृतक और अचल भाषा जीवित और जागृत साहित्य का माध्यम नहीं बन सकती। जन-साहित्य तो जनता की बोल चाल की किसी भाषा में ही प्रस्फुटित हो सकता है। अमेरिकन विश्वविद्यालयों के कतिपय चीनी विद्यार्थियों ने इस प्रश्न को लेकर आन्दोलन आरम्भ किया। उन्होंने बोलचाल की भाषा "पैहुआ" का समर्थन किया और उसकी एक वर्णमाला भी बना डाली। धीरे-धीरे भाषा का यह आन्दोलन देश में भी पहुँचा। प्रतिक्रियावादियों और पंडितों ने प्राचीन भाषा का पक्ष लिया। पर उनके विरोध के होते हुए भी जनता की रुझान "पैहुआ" की ओर बढ़ी और थोड़े ही दिनों के अन्दर देश में इस नई शिक्षा प्रणाली ने अपना प्रभाव जमा लिया। हजारों की संख्या में "पैहुआ" भाषा के स्कूल खोले गये। जनता के रुख को देख कर पत्र और पत्रिकाओं ने भी बोलचाल की भाषा को अपनाया। आज दिन चीन की पाठशालाओं में इसी भाषा द्वारा शिक्षा दी जा रही है। देश के अधिकांश पत्र और नया साहित्य इसी भाषा में है। पैहुआ का प्रचार और प्रसार चीनी साहित्य के नवयुग का द्योतक है।

चीन और भारतवर्ष

"महाभारत" में चीन के राजा भगदत्त का उल्लेख आया है। कौरव-पांडव युद्ध में भगदत्त ने कौरवों का साथ दिया था। यदि कौरव-पांडव-युद्ध में भगदत्त के भाग लेने की बात सच है तो

मानना पड़ेगा कि चीन और भारतवर्ष के बीच उस समय भी घनिष्ट सम्बन्ध रहा होगा। इन दोनों देशों के बीच घनिष्ट सांस्कृतिक सम्बन्ध का एक निश्चित प्रमाण यह है कि चीन की सब से प्राचीन पुस्तकों में सस्कृत के भी ग्रन्थ पाये गये हैं। परन्तु इस सम्बन्ध का हमारे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक नहीं मिल सका है। चीन और भारतवर्ष के बीच निकट सम्पर्क का "ऐतिहासिक" प्रमाण सम्राट अशोक के समय से मिलता है। अशोक के धर्म प्रचारक चीन भी पहुँचे, एशिया के दूसरे देशों की तरह चीन में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और इसी समय से दोनो देश एक धर्म-सूत्र में बँध गये। एक देश से दूसरे देश में यात्रियों और विद्वानों का आना भी इसी काल से आरम्भ हुआ और यह सांस्कृतिक आदान-प्रदान लगभग १५ सौ वर्षों तक बना रहा।

प्रथम भारतीय, जिनके चीन जाने का प्रमाण उपलब्ध है, वह काश्यप मातंग थे। सन् ६७ ई० में चीनी सम्राट मिंडती के निमंत्रण पर ये चीन गये। इनके साथ अनेक भारतीय विद्वान भी चीन गये और जाकर वहाँ बस गये। छठी सदी में चीन में भारतीयों की संख्या लगभग १३ हजार बतलाई जाती है। चीन जा कर बसने वाले अधिकांश भारतीय बौद्ध भिक्षुक थे। इन भारतीय विद्वानों ने अनेक भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया और साथ ही उसी भाषा में कई मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। कुमार जीव द्वारा लिखित चीनी भाषा की ४७ पुस्तकें आज भी उपलब्ध हैं। *

कुमार जीव एक बौद्ध भिक्षुक थे। सन् ४०१ ई० में ये चीन गये। अनेक मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने नागार्जुन की जीवनी का चीनी भाषा में अनुवाद किया। जगगुप्त एक दूसरे

*The Discovery of India by. J, Nehru.

भारतीय विद्वान् थे जो छठीं सदी में चीन गये। इन्होंने ३७ संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

चीन से भी अनेक यात्री और विद्वान भारत आये। इन चीनी यात्रियों में फ़ाहियान, सुंगयुन, ह्वेनसांग और इत्सिंग के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। फाहियान कुमारजीव के शिष्य थे। यह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में भारतवर्ष आये। इनका अधिकांश समय भ्रमण और पाटलिपुत्र में बीता, जहां इन्होंने शिक्षा ग्रहण की। ह्वेनसांग हर्षवर्धन के समय में भारतवर्ष आये। हर्षवर्धन ने ह्वेनसांग को अपने दरबार में विशेष रूप से सम्मानित कर के रखा। ह्वेनसांग ने भी सारे भारतवर्ष का भ्रमण किया। चीन लौटने पर उन्होंने भारतवर्ष पर एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम "पश्चिमी राज्य" है। इस पुस्तक में ह्वेनसांग ने उस समय के भारतीय समाज, धर्म और लोगों की रहन-सहन का सुन्दर वर्णन किया है। ह्वेनसांग ६ वर्ष तक भारत में रहे। इन्हीं के प्रयत्नों से भारतवर्ष और चीन के बीच राजनैतिक सम्पर्क कायम हुआ और दोनों देशों ने राजदूतों का आदान-प्रदान किया। चीन लौटते समय ह्वेनसांग बहुत सी पुस्तकें अपने साथ ले गये। यह समुद्री मार्ग से अपने देश लौटे। ह्वेनसांग के बाद भारतवर्ष आने वाले दूसरे प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग थे। यह समुद्र के मार्ग से भारत आये। इन्होंने नालन्द में शिक्षा प्राप्त की। संस्कृत का इनका अध्ययन अच्छा था।

अशोक के समय से लेकर नवी शताब्दि तक चीन और भारतवर्ष एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहे। पर नवीं शताब्दि में भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का ह्रास आरम्भ हो गया और बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ इन दोनों देशों के बीच आदान-प्रदान कम हो गया। ११ वीं सदी और उसके बाद मुसलमान विजेताओं

की धर्मान्धता से बचने के लिये बौद्ध भिक्षुक पुस्तकों का भंडार लेकर तिब्बत और चीन की ओर चल पड़े और इस प्रकार भारतीय साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग चीन और तिब्बत पहुँचा। इन ग्रन्थों में से आज भी अधिकांश वहां है। इन ग्रन्थों में धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त ज्योतिष, गणित और चिकित्सा आदि के भी ग्रन्थ है। चीन के सुंगपाओ संग्रहालय मे ८००० ऐसे भारतीय ग्रन्थ वर्तमान है। *

मुसलमानी विजय के बाद प्रायः दो सौ वर्षों तक चीन और भारतवर्ष एक दूसरे से कटे रहे। परन्तु मुहम्मद बिन तुग़लक़ ने (१३२६-५१ ई०) चीन के साथ फिर से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित किया। इसने इब्नबतूता को अपना राजदूत बना कर चीन भेजा। इसी समय बंगाल के सुल्तानों ने भी चीन से राजदूतों का अदल-बदल किया। पठान और मुग़ल शासन मे यद्यपि चीन और भारतवर्ष के बीच वह निकट सम्पर्क न रहा जो प्राचीन समय में था, फिर भी इस काल में इन दोनों देशों के बीच व्यापार होता रहा।

पंडित जवाहर लाल जी के शब्दों में मुगल साम्राज्य के पतन के बाद "भाग्य के अजीब फेरसे भारत और चीन ब्रिटिश ईस्ट इन्डिया कंपनी के प्रभाव में आये। भारतवर्ष को हड़प कर अंग्रेजों ने चीन में भी अपना जाल फैलाया। भारत से अफीम लेकर अंग्रेज व्यापारी चीन पहुँचे।" अपने देश में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ते देख चीन के लोग ताड़ गये। परिणाम यह हुआ कि सन् १८४० में अंग्रेज और चीनियों के बीच अफीम का युद्ध हुआ। युद्ध में चीन हार गया। निकम्मे मंचू राजाओं के शासन काल में चीन को बुरे दिन देखने पड़े। विदेशियों ने बार-बार चढ़ाई करके चीन को अपमानित किया

---

* 236 The Discovery of India by J Nehru.

और उसके विभिन्न भागों पर अधिकार कर लिया। इधर भारतवर्ष भी प्रायः ढाई सौ वर्षों तक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा रहा। इस अन्धकार के समय चीन और भारत एक दूसरे को भूल से गये। पर भाग्य चक्र अब फिर एक बार पूरा घूम चुका है। जागृत भारत और जागृत चीन फिर एक दूसरे की ओर देखने लगे हैं और उनके बीच सद्भावना की लहरें फिर उठ पड़ी हैं। दोनों को एक दूसरे से गहरी और सच्ची सहानुभूति है। जापानी हमले के समय सन् १९३७ में चीन के सहायतार्थ अपना मेडिकल मिशन भेज कर भारत ने अपनी सद्भावना और सहानुभूति का व्यावहारिक परिचय दिया। स्वतंत्र भारत और स्वतंत्र चीन के बीच फिर निकट सम्पर्क स्थापित हो और प्राचीन सांस्कृतिक एकता की पृष्ठभूमि में वे दृढ़तर मैत्री बन्धन में बँधे यही हर एक भारतवासी की कामना है।

तिब्बत

भौगोलिक स्थिति

संस्कृत साहित्य में तिब्बत का नाम त्रिविष्टप है। प्राचीन काल में यह देश जम्बू द्वीप मे सर्वश्रेष्ठ और देवताओं के रहने का स्थान माना जाता था। भारत के तपस्वी जीवन बिताने वाले ऋषि-मुनि हिमालय के दुरूह मार्ग को पार कर यहाँ तीर्थाटन के लिए आते थे। यहाँ पर उन्हे संसार के कोलाहल से बच कर एकाकी जीवन बिताने का अवसर मिलता था। मानसरोवर एवं कैलास यात्रा की अतीत परम्परा आज भी धर्म-प्राण भारतीयों के लिए परम् पवित्र है। भारतवर्ष के तपस्वियों ने तिब्बत में सभ्यता का आलोक फैलाया था और उसे धर्म की दीक्षा दी थी। प्राचीन काल में तिब्बत और भारत में घनिष्ट सम्बन्ध था। ११ वीं सदी के प्रारम्भ तक दोनों देशों में निकट सम्पर्क बना रहा। परन्तु मुसलमानी विजय के समय से भारतवर्ष और तिब्बत का सम्बन्ध-सूत्र कुछ काल के बाद विछिन्न हो गया और आज तिब्बत हमारे लिए अज्ञात देश बन गया है। यातायात की कठिनाइयों के कारण तिब्बत आज भी बाहरी दुनियाँ के लिए अज्ञात देश है, परन्तु विदेशों में उसके बारें में जानने की उत्सुकता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

एशिया महाद्वीप के हृदस्थल में स्थित तिब्बत संसार में सबसे अधिक ऊँचाई पर बसा हुआ देश है। इसका उत्तरी भाग समुद्र के धरातल से १६,००० फीट ऊँचा है। तिब्बत का क्षेत्रफल ७ लाख वर्गमील से कुछ अधिक है। इसकी लम्बाई १६००. मील और चौड़ाई ७०० मील के करीब है। यह उत्तर में चीनी तुर्किस्तान,

दक्षिण में नैपाल, भूटान और सिक्खम, पश्चिम में काश्मीर तथा पूर्व में चीन से घिरा हुआ है।

बनावट के विचार से तिब्बत की भूमि तीन भागों में विभाजित की जा सकती है। उत्तरी तिब्बत के निर्जन भाग को चांग-तंग कहते हैं। इसके विस्तीर्ण क्षेत्र में घाटियों का जाल सा बिछा हुआ है। अधिक ऊँचाई और सर्दी के कारण ये क्षेत्र उजाड़ तथा वृक्षरहित हैं। दूसरा खण्ड दक्षिणी तिब्बत संग यो (ब्रह्मपुत्र) सिंध और सतलज की घाटियों से घिरा हुआ है। यही मुख्य-तिब्बत प्रदेश है जो सबसे अधिक घना बसा हुआ है। तिब्बत की राजधानी लासा इसी क्षेत्र में स्थित है। शिंगत्से और ज्ञानत्से दो अन्य नगर भी इसी खण्ड में हैं। तीसरा खण्ड पश्चिमी तिब्बत का है, जिसके अन्तर्गत तिब्बत के तीन जिले आते हैं। जालुंग की प्रसिद्ध सोने की खान इसी भाग में है।

जलवायु और उपज

तिब्बत का जलवायु कष्टप्रद है। यहाँ जाड़े में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है। तेज़ हवा के चलने से, जो दिन के तीसरे पहर से सूर्य डूबने के कुछ देर बाद तक चलती रहती है, सर्दी और भी भयानक रूप धारण कर लेती है। रात और दिन के तापमान में भी बहुत बड़ा अन्तर होता है। गर्मी के दिनों में ज्ञानत्से नगर का उच्चतम तापक्रम १०५ डिग्री फारन हाइट तथा निम्नतम ताप ऋण ५ अंश हो जाता है। शरद ऋतु में यह तापक्रम और भी गिर जाता है। वर्षा साधारणतः कम होती है। पूरे वर्ष में १२, १४ इंच से अधिक वृष्टि नहीं हो पाती।

तिब्बत उपजाऊ देश नहीं है। उत्तरी भाग में भयानक सर्दी के कारण किसी प्रकार की उपज नहीं होती। यह एक निर्जन और उजाड़ भू-खंड है। केवल दक्षिणपूर्वी भाग में खेती होती है। जव, मोथी, मटर, सेव, आड़, अखरोट और खबानी इस भाग में

पैदा होते हैं। जंगलों में शरीफे और जंगली गुलाब के पौदे अधिकता से उगते हैं। फूलों में इन्द्रधनुष, गुलाब आदि बहुतायत से पहाड़ी ढालों पर होते हैं।

तिब्बत सुन्दर झीलों और नदियों का देश है। सिन्ध, सतलज और ब्रह्मपुत्र नदियों का उद्‌गम दक्षिण-पूर्व तिब्बत में है। यांग्ट्सी, मेकांग और सालविन दक्षिण-पूर्व एशिया की तीन बड़ी नदियाँ पूर्वीय तिब्बत के पठार से निकलती हैं।

तिब्बत में झीलों की संख्या अत्यधिक है। दुनिया के किसी भी देश में इतनी अधिक झीलें नहीं हैं। देश के मध्य भाग में स्थित तेंगरी नोर तिब्बत की सबसे बड़ी झील है। इसका क्षेत्रफल १,००० वर्गमील है। मानसरोवर और राकसताल दो पवित्र झीलें सतलज के उद्‌गम के निकट हैं। इसके अतिरिक्त तिब्बत में एक सौ वर्ग मील से अधिक विस्तार की बहुत सी झीलें हैं। मानसरोवर झील समुद्र के धरातल से १५,५०० फुट ऊपर है। यह झील अठपहलू आकार की है। इसका जल बहुत ही स्वच्छ है। इसके उत्तर-पश्चिम में कैलास पर्वत प्रहरी की भाँति खड़ा है। मानसरोवर संसार भर में मीठे पानी की सबसे बड़ी झील समझी जाती है। तिब्बत की भाषा में इसका नाम मापह्राम-यू-मत्सी है। इसके विषय में एक कथा है कि इस झील के बीच में एक जम्बू वृक्ष है जिसके फल से सब दुःख दूर हो जाते हैं। उस फल की खोज में देवता और मनुष्य सभी रहते हैं।

राकसताल और मानसरोवर के बीच एक पर्वत है। कभी-कभी वर्षा के कारण इन दोनों झीलों का पानी मिल जाता है, जिसे तिब्बत वाले पति-पत्नी का संयोग कहते हैं। उनका कहना है कि राकसताल पति है, जो हर पन्द्रहवें वर्ष अपनी पत्नी मानसरोवर से मिलता है। जुलाई और अगस्त मास में बहुत से तीर्थयात्री

मानसरोवर में आकर स्नान करते हैं। प्रायः लोग व्यापार के लिए भी आते हैं।

तिब्बत की भूमि रत्नगर्भा है, परन्तु उपयुक्त साधन एवं अपेक्षित क्षमता के अभाव में यहाँ के निवासी उसका सदुपयोग नहीं कर सके हैं। उत्तरी भाग में सोना पाया जाता है। पूर्वीय तिब्बत में सोना, तांबा, लोहा, सोहागा और सीसा की खानें हैं। तिब्बत में सोना नदियों की घाटियों में भी पाया जाता है।

तिब्बत में नगरों की संख्या बहुत कम है। यहां की जन संख्या ६० लाख के करीब है। अधिकांश लोग छोटे-छोटे गावों में रहते हैं और देश के उन भागों में बिखरे हुए हैं, जहाँ भूमि से निर्वाह के साधन उपलब्ध हो सकते हैं। सबसे बड़ा नगर लासा है, जो तिब्बत की राजधानी है। लासा के पोटाला प्रासाद में दलाई लामा का निवास स्थान है। पोटाला प्रासाद देश में सर्वोपरि भव्य भवन है। इस नगर का दूसरा आकर्षक स्थान जोकंग नाम का मन्दिर है जिसका निर्माण ६५२ ई० में हुआ था। यह मंदिर परम पवित्र माना जाता है, जिसमें संग-सन-गम-पो नरेश की रानी द्वारा चीन से लाई हुई बौद्ध मूर्ति स्थापित है।

दूसरा प्रसिद्ध नगर शिगत्से है, जो लासा से १३० मील पश्चिम है। यह 'पंचन-दिन-पोचे सरकार' की राजधानी है, जो साधारणतः ताशी लामा के नाम से प्रसिद्ध है।

शिगत्से नगर से ६० मील दक्षिण की ओर ज्ञानत्से नगर है जो भारत और लासा तथा भारत और शिगत्से नगर के व्यापार मार्ग के केन्द्र में बसा हुआ है। यह नगर भारत और तिब्बत सरकार की ओर से व्यापार-केन्द्र चुना गया है। यहाँ पर दोनों सरकारों के व्यापार एजेन्ट तथा सम्पर्क अफसरों का प्रधान कार्यालय है। ज्ञानत्से नगर का सर्वोपरि दर्शनीय स्थान वहाँ

का फॉग किला है, जो ग्यानत्से के मैदान में स्थित एक पहाड़ी पर बनाया गया है। भारत सरकार द्वारा सन् १९०४ ई० में इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया था। परन्तु उपद्रव शान्त होने के बाद यह तिब्बत सरकार को वापस कर दिया गया।

ग्यानत्से तक भारत और तिब्बत की तार की लाइन जाती है जो भारत सरकार की है। ग्यानत्से से लासा तक की तार-लाइन तिब्बत सरकार की सम्पत्ति है। ग्यानत्से नगर से एक मील दक्षिण एक किला है, जिसमें भारत सरकार के व्यापार एजेन्ट साधारण रक्षक सेना के साथ रहते हैं, जो राजदूत का काम भी करते हैं। तिब्बत के दक्षिण और पूर्वीय सीमाओं पर भी छोटे-छोटे भारतीय व्यापार केन्द्र हैं, जहाँ पर सीमा रक्षक सैनिक टुकड़ियों के रहने का भी प्रबन्ध है।

इतिहास

ईसा की सातवीं सदी से पूर्व का तिब्बत का इतिहास अंधकारमय है। तिब्बत में प्राकऐतिहासिक काल के जो साहित्य मिलते हैं उनमें से, अधिकांश, पौराणिक कहानियों के रूप में हैं। कुछ घटनाओं का उल्लेख चीन के तत्कालीन इतिहास में भी मिलता है। परम्परागत प्रसिद्धि चली आती है कि तिब्बत-निवासी चेन-रे-सी (चेन ऋषि) की सन्तान हैं। चेन का अर्थ दयालु होता है। चेन-रे-सी तिब्बत के प्रधान देवता माने जाते हैं। राजाओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि तिब्बत के सर्व प्रथम राजा न्या-भी-सम-पो कौशल देश के नृप प्रसेनजित के पांचवें पुत्र थे। न्या-भी-सम-पो कौन थे और तिब्बत में इनका आधिपत्य कैसे स्थापित हुआ, इसका अभी तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिल सका है।

तिब्बत का क्रमबद्ध इतिहास ईसा की सातवीं सदी में स्रंग-सन-गन-पो के राजत्वकाल से आरम्भ होता है। यह न्यायप्रिय

और महान् धर्म-सुधारक थे। इनके समय में तिब्बत की बहुत उन्नति हुई। इतिहासकारों का अनुमान है कि तिब्बत में लेखन-कला का आरम्भ इन्हीं के समय में हुआ। यद्यपि इनके समय से दो सौ वर्ष पहले ही से देश में बौद्ध-धर्म फैल चुका था, परन्तु इसका व्यापक प्रचार इन्हीं के शासन काल में हुआ और बौद्ध धर्म जनता का धर्म बन चला। स्रंगसन गम पो धर्म सुधारक ही नहीं, वरन् विजेता भी थे। तिब्बत के इतिहासकारों के मतानुसार इनके राज्य का विस्तार हिमालय के दक्षिण तक था। चीन के इतिहास में बंगाल प्रान्त भी इसी राजा के आधिपत्य में बतलाया जाता है, परन्तु हमारे इतिहास में इस बात का कहीं प्रमाण नहीं मिलता कि इस देश के किसी भी भाग पर कभी भी तिब्बत का आधिपत्य रहा हो। तिब्बत के इतिहास में इस बात का भी उल्लेख आया है कि सन् ७०३ ई० में नैपाल और ब्रह्म देश ने तिब्बत के आधिपत्य के विरुद्ध बग़ावत का झंडा उठाया। विद्रोही विजयी हुये और युद्ध में तिब्बत का तत्कालीन राजा मारा गया। स्रंग-सन-गन-पो के समय में तिब्बत का सम्पर्क चीन, नैपाल और दूसरे पड़ोसी देशों से था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि इस राजा की दो रानियों में से एक नैपाल और दूसरी चीन की राजकुमारी थी।

स्रंग-सन-गन-पो के वंशजों ने तिब्बत पर लगभग ३०० वर्ष तक राज्य किया। लंगधर्म इस वंश का अन्तिम राजा हुआ। अपने भाई की हत्या कर के यह गद्दी पर बैठा और बौद्ध-धर्म को नष्ट करने की योजना बनायी। यह तीन वर्ष भी राज्य न कर पाया था कि प्रतिशोध के रूप में एक बौद्ध साधु ने इसकी हत्या कर डाली। लंगधर्म की मृत्यु के बाद तिब्बत का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया। थोड़े ही समय के बाद तिब्बत पर चीन का आधिपत्य

हो गया। ईसा के लगभग १००० वर्ष बाद विक्रमशीला नामक विहार के अध्यक्ष अतीश के तिब्बत जाने का प्रमाण मिलता है। इन्हीं के समय से तिब्बत में शाक्य पंडितों का प्रभाव बढ़ा और सौ वर्ष के भीतर ही लामा धर्म देश में सदा के लिए दृढ़ हो गया। इस समय तिब्बत पर चीन के मंगोल सम्राट कुबलाईखा का आधिपत्य था। शाक्य पंडितों की लोक-सेवाओं का उस पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उसने स्वयं बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और तिब्बत का राज्य शाक्य पंडितों को दे दिया। तिब्बत में लामाओं के प्रभुत्व का श्री गणेश यहीं से हुआ। शाक्य पंडितों ने ७० वर्ष तक राज्य किया। सन् १३४० में उन्हें पदच्युत होना पड़ा। तिब्बत में एक नया राजवंश चला जो सित्यवंश के नाम से विख्यात हुआ। इस राज्यवंश ने तिब्बत पर १६३५ ई० तक राज्य किया। सित्यवंश के पतन के बाद तिब्बत में पीली टोपी वाले लामाओं की शक्ति बढ़ी और क्रमशः देश का शासन सूत्र इन्हीं के हाथ में आ गया। 'बे-उन-त्रप्प' पीताम्बरी सम्प्रदाय के प्रथम महान् लामा हुए जो सर्वसा-धारण में ताशी लामा के नाम से विख्यात हुए। सन् १४७५ ई० में उनकी मृत्यु हो गयी और तिब्बतियों के विश्वास के अनुसार दो वर्ष बाद उनकी आत्मा का पुनः जन्म हुआ। यही लड़का उनका उत्तराधिकारी हुआ। इसी समय से प्रधान लामा के अवतार की विचित्र प्रथा तिब्बत में आज तक चली आती है। तीसरे अवतारी लामा सोनम ग्यातसो हुये। इन्होंने मंगोलिया में नवीन धर्म का प्रचार किया। उनके धर्म-प्रचार से प्रसन्न होकर तत्कालीन मंगोल सरदार ने सोनम-ग्यातसो को दलाई लामा (सदाचार सागर) की उपाधि दी। दलाई लामा की यही प्रथा आज तक चली आ रही है। आरम्भ से लेकर आज तक तिब्बत में बारह दलाई लामा हो चुके है। वर्तमान दलाई लामा अपनी शाखा में

तेरहवे है। इनका नाम जेतसुन-जम्बल-नगा-बॉग-लेखसंग-ईशे-तेनजिग-ग्यात्सो है, यह ६ जून सन् १९३५ में पैदा हुए और फरवरी सन् १९४० ई० में लासा की गद्दी पर बैठे।

तिब्बत का वैदेशिक सम्बन्ध

अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण तिब्बत अपने आस-पास के देशों से प्राय अलग रहा है। हिमालय की अगम्य श्रेणियों से घिरे इस भूखंड के प्रति इसके पड़ोसी भी उदासीन रहे हैं। परन्तु इस भौगोलिक पृथकता के होते हुए भी तिब्बत प्रायः कभी भी पूर्ण सत्ताधारी देश नहीं रहा है। प्राचीन काल से ही किसी न किसी अंश में इस पर चीन का आधिपत्य रहा है। भारतवर्ष से तिब्बत का कभी राजनैतिक सम्बन्ध रहा या नहीं, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। तिब्बत से हमारा सम्बन्ध आरम्भ से ही प्रधानत सांस्कृतिक और व्यावसायिक रहा है। तिब्बत जब तक चीन की छत्रछाया में रहा तब तक उसके पड़ोसियों ने उसकी ओर निगाह न उठाई, पर १८ वीं सदी में ज्यो ही चीन के मंचू वंश की शक्ति क्षीण होने लगी, तिब्बत में बाहरी हस्तक्षेप आरम्भ हो गया। अठारहवीं सदी में सर्व प्रथम नैपाल और काश्मीर ने इस पर अपना आधिपत्य करना चाहा। सन् १७८८ ई० और १८५५ ई० में गोरखा सेनाओं ने तिब्बत पर चढ़ाई की। पहली बार तो चीनी सेनाओ ने उन्हे हरा दिया परन्तु दूसरी बार तिब्बत को नेपाल से संधि करनी पड़ी और उसे व्यापार-सम्बन्धी कई अधिकार देने पड़े। साथ ही साथ लासा में नैपाल का राजदूत भी रहने लगा। काश्मीर के डोगरा राजपूतों ने सन् १८३८ में पश्चिमी तिब्बत पर चढ़ाई की पर चीनी सेनाओ के सामने उन्हें हटना पड़ा।

इसी समय जब चीनी सरकार का प्रभाव तिब्बत और दूसरे प्रान्तों में कम हो रहा था, ब्रिटेन और रूस भी क्षेत्र में उतर

आये और तिब्बत को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आने के लिए क्रियाशील हो गये। तिब्बत से सम्बन्धित ब्रिटिश-रूसी प्रतिद्वन्दिता लार्ड कर्जन के समय मे सन् १६०४ में समाप्त हुई। तिब्बत से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अंग्रेजों की ओर से सबसे पहले वारेन हेस्टिंग्स के समय मे प्रयत्न किया गया। सन् १७७४ ई० में बंगाल के गवर्नर ने एक सुयोग्य अंग्रेज को इसी उद्देश्य से तिब्बत भेजा। सन १७८३ में फिर सैमुअल टर्नर को शिगात्से भेजने का प्रयत्न किया गया। परन्तु दोनों प्रयत्न बेकार गये। पहले तो तिब्बत के लोग स्वयं अंग्रेजों की कूटनीति से डरते थे, दूसरे राजधानी में चीनियों के प्रभाव के कारण समझौते की बात न चलाई जा सकी। अंग्रेजों की सरगर्मी देखकर रूस भी आगे बढ़ा। ज़ार तो बहुत पहले से तिब्बत पर आँखे लगाये बैठा था, उसने दोरज़े नाम के एक मंगोलियन लामा की सहायता से तिब्बत के साथ मैत्री सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न आरम्भ किया। दोरज़े तत्कालीन दलाई लामा का गुरु था और उस पर विशेष प्रभाव रखता था। उसने दलाई लामा और उसके मंत्रियों को रूस के पक्ष में करने का प्रचार आरम्भ किया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने तिब्बतियों की धार्मिक धारणाओं से भी पूरा लाभ उठाया। तिब्बत में किसी समय एक लामा ने भविष्य वाणी की थी कि भविष्य मे काश्मीर से उत्तर बुद्धदेव का अवतार होगा। जिस देश में उनका अवतार होगा उसका नाम 'चंग शम्भाला' होगा। सारा संसार इसी देश के आधिपत्य में हो जायगा। यह देश भारतवर्ष के बुद्धगया के मंदिर लगभग ३ हज़ार मील उत्तर की ओर होगा। दोरज़े ने इस भविष्यवाणी से अपना काम निकालना चाहा। उसने इस बात का प्रचार किया कि चंग शम्भाला देश रूस है और ज़ार बुद्धदेव के अवतार है। सब बौद्धों को चाहिए कि ज़ार को सर झुकावे

अन्त में दोरज़े का रंग दलाई लामा और मंत्रियों पर चढ़ गया। दलाई लामा स्वयं ब्रिटेन के पंजे से बचने की चिंता में था। उसे रूस के साथ मैत्री की बात जँच गयी। सन् १६०० ई० में उसने ज़ार के यहाँ अपने प्रधान मंत्री को भेजा। दोनों के बीच तिब्बत की सुरक्षा के सम्बन्ध में गुप्त मंत्रणा हुई। रूस से कुछ अस्त्र-शस्त्र भी तिब्बत आये। तिब्बत में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव और संधि का समाचार जब ब्रिटेन में पहुँचा तो अंग्रेज़ सशंकित हो उठे। सन् १६०३ में लार्ड क़र्ज़न ने कर्नल यंग हसबैंड को एक सैनिक टुकड़ी के साथ तिब्बत रवाना किया।

एक बार फिर तिब्बत-वासियों ने ब्रिटिश सरकार से समझौते की बातों को अस्वीकार कर दिया तथा अंग्रेज़ों के तिब्बत में प्रवेश करने में सक्रिय रुकावट पैदा करनी चाही। परन्तु यह दल सैनिक आक्रामकों के रूप में परिवर्तित हो गया और अन्ततः अनेक कठिनाइयों के उपरान्त लासा पहुँचा। इसके पहुँचने पर यह ज्ञात हुआ कि दलाई लामा मंगोलिया भाग गये हैं। वस्तुतः तिब्बत सरकार के साथ संधि की गई, जिसकी शर्तें निम्न प्रकार हैं। (१) ज्ञानत्से, चातुंग और चारतोक में व्यापार केन्द्रों की स्थापना। (२) तिब्बत और भारत के बीच व्यापार-कर बन्द करना। (३) ब्रिटिश सरकार को लड़ाई का हरजाना देना। (४) तिब्बत के किसी भाग को ब्रिटिश सरकार की अनुमति बिना किसी दूसरी सरकार को पट्टे पर न देना। यद्यपि सैनिक दल संधि के बाद लौट आया, परन्तु दलाई लामा १६०६ से पूर्व लासा वापस न आ सके।

संधि हो जाने के बाद भारतवर्ष और तिब्बत के बीच व्यापार बढ़ा, परन्तु देश में अंग्रेज़ी प्रभाव बढ़ते देख चीन सशंक हो उठा। चीन सरकार कुछ सतर्क हुई और उसने तिब्बत पर अपना अधिकार जमाने का निश्चय किया। इसके लिए एक कोण से तिब्बत के निवासियों को तीन वर्गों में विभाजित किया

सैनिक संगठन किया गया। फरवरी सन १६१० में चीन सैनिक दल लासा पहुँच गया तथा उसने तिब्बत के शासन को अपने अधिकार में कर लिया। जनता भय से दब गयी और एक बार फिर दलाई लामा अपने मंत्रियों सहित लासा छोड़ कर भागे। इस बार वह दार्जिलिंग (भारत) में आये। जब तक वह भारत में रहे भारतीय सरकार की ओर से उनका अच्छा आदर सत्कार किया गया। भारत सरकार के व्यवहार से तिब्बत निवासी प्रसन्न हुए। सन् १६११ में चीन की क्रान्ति प्रारम्भ हुई जिसके कारण तिब्बत स्थित चीनी सेना में भी बग़ावत फैली और तिब्बती सेना ने ऐसी स्थिति से लाभ उठा कर चीनियों को सुगमता से लासा से बाहर खदेड़ दिया। दलाई लामा अपने मंत्रियों सहित राजधानी में वापस आये और इस प्रकार जून १६१२ ई० तक चीन का नियंत्रण तिब्बत से उठ गया। इधर चीन तथा तिब्बत का सम्बन्ध फिर कुछ बढ़ गया है। एक चीनी राजदूत लासा में रहता है और चीन के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करता है।

सन १६२० ई० के अन्त में तिब्बत सरकार के निमंत्रण पर ब्रिटिश प्रतिनिधि मिस्टर बेल (सर चार्ल्स) राजनैतिक वार्ता के लिए लासा भेजे गये। वह एक वर्ष तक दलाई लामा के अतिथि रहे। उनके तिब्बती भाषा के ज्ञान, तिब्बती रीति-रिवाज एवं धर्म की ग्रहण-शीलता के कारण भारत सरकार के प्रति तिब्बतियों का भ्रम दूर हुआ और दोनों सरकारों में परस्पर विश्वास तथा घनिष्टता बढ़ी। सन् १६२६ से तिब्बत सरकार ने लासा में विदेशी विभाग की स्थापना की है जिससे अन्य सरकारों से लिखा पढ़ी की सुविधा हो गई है।

निवासी और सामाजिक जीवन

तिब्बत निवासियों का जातीय सम्बन्ध मंगोलिया से है। उनकी आकृति भी मंगोलों से मिलती-जुलती है। सामाजिक दृष्टि-

जा सकता है। सामन्त वर्ग, मध्यम वर्ग और जन साधारण। सामन्त वर्ग में तिब्बत के राजवंश, सरदारों और लामाओं के वंशज आते है। ताशी लामा और दलाई लामा के परिवार वालों की गणना भी सामन्त वर्ग में की जाती है। तिब्बती सरकार की ओर से इन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें दे दी जाती हैं। प्राचीन काल के महामंत्रियों की सन्तानें भी इसी वर्ग में सम्मिलित है। तिब्बत के आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन पर इस वर्ग का नियंत्रण विशेष रूप से है। शासन में उच्चपद इन्हे सुगमता से मिल जाता है। प्रधान मंत्री, महामंत्री और दूसरे उच्च पदों पर प्रायः इसी वर्ग के लोग नियुक्त किये जाते हैं। सामन्त वर्ग तिब्बत का शासक, धर्मगुरु और सैनिक हो नही, वरन् उसका महाजन और ज़मीदार भी है। देश की अधिकांश भूमि भी इन्हीं सरदारों और जागीरदारों के हाथ में है। अपने देश में जो सम्मानित पद तिब्बत के सामन्त वर्ग को प्राप्त है, वह पद आधुनिक संसार के किसी भी वर्ग को नहीं प्राप्त है। तिब्बत के मध्यम श्रेणी के लोग अधिकांश व्यापारी हैं। जन साधारण की दो श्रेणियाँ हैं, जिन्हें तिब्बत की भाषा में "टोंगवो" और "टोंगडू" कहते हैं। "टोंगवो' श्रेणी के लोग अधिकतर खेतिहर किसान है। खेती के अतिरिक्त ये लोग छोटे-छोटे दूसरे काम भी करते है। "टोंगडू" श्रेणी के अन्दर कई उपजातियाँ है, जिनमें मल्लाह, मछुआ, लुहार और कसाई मुख्य हैं। तिब्बत में लुहार और बूचड़ अत्यन्त नीच जाति के समझे जाते हैं। लुहार का काम इसलिए नीच समझा जाता है कि वे ऐसे हथियार बनाते हैं जिनसे जीवों की हत्या होती है! इन्हें अन्य जातियों के साथ एक स्थान पर बैठ कर भोजन करने का अधिकार नहीं है। तिब्बत में "टोंगडू" श्रेणी के लोगों की स्थिति बहुत कुछ हमारे देश में हरिजनों की स्थिति से मिलती है। इस श्रेणी का कोई व्यक्ति लामा नहीं बन सकता।

यदि किसी प्रकार बिहार में वह प्रविष्ट भी कर जाय तो उसे अपनी जाति छिपा कर रखनी पड़ती है। यदि उच्च जाति का कोई व्यक्ति नीच जाति में विवाह कर ले तो वह जाति-च्युत कर दिया जाता है। तिब्बत के जन-साधारण में एक वर्ग चरवाहों और गड़रियों का है। इनका कोई स्थायी निवास-स्थान नहीं है। ये खानाबदोशों की तरह उत्तर के ऊँचे पठारों पर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इनकी सम्पत्ति इनके ढोर हैं। जाड़े के दिनों में ये लोग दक्षिण-तिब्बत की ओर चले आते हैं और वर्ष भर की अपनी संचित सामग्री ऊन, नमक, याक की दुम, चँवर, मक्खन आदि बेचते हैं। वापस जाते समय जौ, गेहूँ, चाय, ऊनी कपड़े आदि अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ख़रीदते हैं, जो ऊपरी भागों में नहीं मिलतीं। तिब्बतियों की रहन-सहन, वेष-भूषा में पाश्चात्य सभ्यता का लेश-मात्र भी नहीं आ पाया है। तिब्बत निवासी आज भी मध्य कालीन युग में रहता है। उसके विश्वास, विचार और उसकी धारणाएँ सभी मध्यकालीन हैं। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने पाश्चात्य सामाजिक जीवन के हर पहलू को बदल डाला है, तिब्बत में उनका कहीं नाम भी नहीं है। संसार से कटे रहकर तिब्बत के लोग आज भी प्राचीन आदर्शों और परम्पराओं के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। आइए, उनके सामाजिक जीवन के कतिपय प्रमुख पहलुओं का विश्लेषण करें।

तिब्बत के कौटुम्बिक जीवन में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा है। सम्भवतः पाश्चात्य देशों की स्त्रियों को भी वह पद और सम्मान प्राप्त नहीं है। इस सम्मानित पद का आधार देश की परम्परा ही नहीं, वरन् तिब्बती महिलाओं की आर्थिक उपयोगिता भी है। अशिक्षित होते हुए भी तिब्बती महिलाएँ अपने काम को जानती और उसमें दक्ष होती हैं। बड़े घरों की स्त्रियाँ तो कोई काम नहीं करतीं, पर साधारण घरों की स्त्रियाँ घर में और घर के

बाहर हर एक काम में पुरुषों का हाथ बँटाती हैं। स्वस्थ होने के कारण वे पुरुषों के समान ही साहस और परिश्रम का काम करती है। किसानों की स्त्रियाँ अपने मर्दों के साथ खेतों में भी काम करने जाती है। घर-गृहस्थी का पूरा भार उन्ही के ऊपर रहता है। जानवरो की देख-भाल करना, दूध दुहना, कताई-बुनाई, मक्खन निकालना आदि काम स्त्रियाँ ही करती हैं। व्यापार में भी वे दक्ष होती है। देश के छोटे-मोटे व्यवसाय और उद्यम उन्हीं के हाथ में है।

संसार के प्रायः सभी देशों में घर गृहस्थी का स्वामी पुरुष होता है। तिब्बत में गृह-स्वामिनी स्त्री होती है। घर की सारी सम्पत्ति उसी के हाथ में रहती है। तिब्बती पति अपनी स्त्री का स्वामी नहीं, उसका अनुचर होता है। एक से अधिक पति रखने वाली स्त्रियाँ अपने पतियों को काम करने और कमाने का आदेश देती हैं*। यदि पत्नी को यह ज्ञात हो जाय कि उसका कोई पति अपना सारा कमाया धन उसे नहीं देता तो वह उसे बुरा भला कहती और कभी-कभी त्याग भी देती है। इन पर्वतीय रमणियों में सौन्दर्य की कमी नहीं है। वे सौन्दर्य की उपासना करती हैं और जिस किसी से सच्चा प्रेम करती है उसके लिए सब कुछ न्यौछावर कर देती हैं। भारतीय स्त्रियों की तरह वे कई प्रकार के आभूषणों से अपने को सजाती हैं। दायें हाथ में शंख की और बायें हाथ में चाँदी की नक्काशदार चूड़ियाँ पहनती है। विवाहिता स्त्रियाँ माथे पर मोतियो का चँदवा पहनती हैं। इसके कपड़े भी रंग विरंगे होते है पर इस सज-धज और सौंदर्य के होते हुए भी उनमें नारी-जनित सरलता का अभाव है। कठोरपन और स्वच्छन्दता इनमें इतनी अधिक मात्रा में वर्तमान

---

* तिब्बत में तीन वर्ष—इकाईकावागुची, पृष्ठ २९१

है कि क्रोध के समय पतिदेव को इनके सामने घुटने टेकने पड़ते हैं। पति-पत्नी का सम्बन्ध-विच्छेद यहाँ अनहोनी बात नहीं समझी जाती। साधारण अनबन में सम्बन्ध टूट जाता है और सम्बन्ध तोड़ने वाली अधिकांश देवियाँ ही होती है। सम्बन्ध-विच्छेद के लिए अदालत में नही जाना पड़ता। एक दूसरे का साथ छोड़ देना ही पर्याप्त है। प्रचलित बहुपति प्रथा ने तिब्बत के नारी समाज को स्वार्थी बना दिया है। पति के सुख-दुःख की स्त्रियाँ विशेष चिन्ता नहीं करती।

बहु-विवाह प्रणाली तिब्बत की एक परम्परागत बात है। कुछ बड़े घरों में एक पति और एक पत्नी का आदर्श भी पाया जाता है। उच्च वर्गों में बहुपत्नी प्रणाली भी कभी-कभी देखने में आती है, परन्तु देश में अधिकतर बहुपति प्रणाली का ही प्रचलन है। बहुपति प्रणाली प्रायः तीन तरह की होती है। अधिकांश तो यह देखने में आता है कि कई भाई मिलकर एक ही स्त्री से विवाह करने पर राज़ी हो जाते है। दूसरी अवस्था यह है कि जब दो या तीन मनुष्य, चाहे वे सगे भाई न हों, आपस में सलाह करके एक ही स्त्री से विवाह कर लेते है। तीसरी अवस्था यह है कि कभी स्वयं स्त्री ही अपने पति पर दबाव डालकर दूसरे पुरुष के साथ भी विवाह सम्बन्ध जोड़ लेती है। तिब्बत में इस प्रकार के सम्बन्ध लज्जाजनक नहीं समझे जाते। ※

वैवाहिक रीतियाँ

यों तो तिब्बत के विभिन्न प्रान्तों की विवाह-सम्बन्धी रीतियाँ प्राय: अलग-अलग है, पर साधारणतः कुछ रस्म रिवाज ऐसे हैं जो देश के हर एक प्रांत में प्रचलित है। भारतवर्ष की तरह तिब्बत में भी माता-पिता ही अपने लड़के-लड़कियों का

※ तिब्बत में तीन वर्ष—इकाईकावागुची, पृष्ठ २२०

संबंध निश्चित करते है। लड़कों से तो प्रायः विवाह के सम्बन्ध में पूछ लिया जाता है, परन्तु लड़कियों को इसका कुछ पता भी नहीं रहता। विवाह के दिन तक वे अन्धकार में रहती है कि उनका विवाह कहाँ और किसके साथ हो रहा है। लासा में लड़कियाँ स्वयं पति को पसन्द करती है। सगे भाई-बहन और चचेरे भाई-बहनो में विवाह-सम्बन्ध वर्जित है। तिब्बत में विवाह साधारणतः २०–२५ वर्ष की अवस्था में होता है। अनमेल विवाह भी होते रहते है। विवाह-सम्बन्ध के लिए लड़के और लड़की की कुंडलियों का मिलना आवश्यक है। यदि कुंडलियों का जोड़ न बैठा तो वार्ता यहीं समाप्त हो जाती है। विवाह की मुहूर्त ज्योतिषियो और पुरोहित (लामा) से पूछ कर स्थिर की जाती है।

विवाह के दिन लाल टोपीधारी लामा बुलाया जाता है। कन्या के घर पर भोज होता है। लामा कुटुम्ब और ग्राम-देवताओं के नाम से पूजा करता है कि इस काम में विघ्न न पड़े। यह पूजा-पाठ अधिकतर लामाओं के मंदिरों में होते है। कन्या के गृह में तिब्बत के प्राचीन धर्म के अनुसार थोम सम्प्रदाय के देवता "लूई गयालयो" नागराज की पूजा होती है। यह देवता गृह का देवता माना जाता है और तिब्बती लोगों को धारणा है कि यदि यह रुष्ट हो जाय तो घर का समस्त वैभव नष्ट हो जाता है। वह देवता कहीं कन्या के साथ न चला जाय इसके लिए उसकी तरह तरह की पूजा होती है। भोज की समाप्ति पर लामा कन्या को सुन्दर उपदेश देता है, जिसका आशय इस प्रकार है :"जब तुम पति के घर जाओ तो वहाँ के सब लोगों पर दया भाव रक्खो। अपने से बड़ों का कहना मानना अपना कर्तव्य समझो। केवल स्वामी के माता-पिता ही नहीं, किन्तु स्वामी और उसके भाई-बहनों से भी अपने भाई-बहनों की भाँति

स्नेह रखो। नौकरों के साथ ऐसा व्यवहार करो मानो वे तुम्हारे पुत्र है ··। लामा के उपदेश के बाद माता-पिता, कुटुम्बी आदि लड़की के सामने बैठ-बैठकर यही उपदेश दोहराते है। माता-पिता यथाशक्ति दहेज भी देते हैं। लड़की को घोड़े पर चढ़ाकर विदा करते है। ससुराल जाते समय लड़की के शरीर पर वही वस्त्र होते है जो उसे स्वसुर द्वारा मिले होते है। लड़की के मुँह पर एक प्रकार की कीमती ऊनी झालर जिसे "निरंचेन नानगा" कहते है, पड़ा होता है, जिसमें उसका मुँह कोई देख नहीं सकता। बारात वाले भी कन्या के साथ घोड़े पर सवार होकर उसके साथ जाते है। मार्ग में दोनों ओर से भोज हुआ करते है। इन भोजों में शराब का प्रयोग जान-बूझ कर कम किया जाता है, क्योंकि सभी समझते हैं कि उन पर वधू को सुरक्षित घर पहुँचा देने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। ससुराल पहुँचने पर वर-पक्ष वाले वधू के स्वागत के लिए आते है, परन्तु जब वधू अपने घर के द्वार पर पहुँचती है तो द्वार बन्द पाती है। यहाँ पर जो लोग वरपक्ष के स्वागतार्थ आते है उनमें एक व्यक्ति आटे से बनी एक प्रकार की तलवार लिये रहता है और वह बधू के मुख की बेल पर उससे जोर से मार कर घर के भीतर भग जाता है। तलवार टूट जाती है और उसमें लगे हुये रंग से बेल लाल रंग की हो जाती है। यह सब केवल इस लिए होता है कि मार्ग में जो भूत-प्रेत बधू के साथ आ गये हों वे भग जायँ। ईस खड्ग को "तोरमा" कहते हैं जो लामाओं द्वारा अभिमंत्रित होती है।

बधू के घर पहुँचते ही प्राचीन सम्प्रदाय का लामा बुलाया जाता है और वह ग्राम देवताओं को यह संवाद सुनाता है कि एक बधू घर में और आ गयी है। देवतागण, इसकी रक्षा का भार भी अपने ऊपर लें।

जन-साधारण में प्राय: ऐसा देखा जाता है कि यदि पति का

छोटा भाई हुआ तो नववधू का छः मास से १२ मास के बीच में उससे भी विवाह कर दिया जाता है। यह विवाह पति के घर ही पर बिना धूम धाम के हो जाता है। इसमें मध्यस्थ का काम वर की माता करती है। जब किसी स्त्री के कई पति होते हैं तब बहुधा देखा जाता है कि वे सभी घर पर इकट्ठा नहीं रहते। बहुपति प्रणाली से उत्पन्न बच्चे स्त्री के पतियों में सबसे बड़े भाई के पुत्र अथवा पुत्री समझे जाते है। स्त्री के शेष पति उनके चचा माने जाते है ।

भोजन

साधारण श्रेणी के तिब्बत-निवासियों का भोजन याक, भेड़ और बकरी का मांस, जौ का आटा, चाय और मक्खन है। फल, हरी तरकारियाँ और चावल केवल धनिक वर्ग के लोग खाते है। विशेष प्रकार की तैयार की हुई चाय तिब्बत की राष्ट्रीय पेय है। तिब्बत की चाय भारतीय चाय से अधिक पुष्टिकर और स्वादिष्ट होती है। इन पत्तियों की आवश्यक मात्रा ईंटों से काट ली जाती है और भली भाँति पानी में उबाली जाती है। फिर कुछ समय रुक कर चाय को एक लम्बे पतले मथने वाले पात्र में डालते है। और नमक, सोडा तथा मक्खन मिलाकर उसे खूब मलते है और इस प्रकार चाय तैयार होती है। इसकी तिब्बत में बहुत खपत है। एक व्यक्ति एक दिन में तीस से पचास प्याले तक चाय पी जाता है।

जई की बनी हुई एक प्रकार की शराब जिसे तिब्बती भाषा में चॉग कहते है, समस्त तिब्बत में सर्वप्रिय पेय है।

प्रमुख त्योहार

तिब्बत में बहुत से त्योहार तथा सन्तों के दिन मनाये जाते हैं, जिनमें लामा तथा जन-साधारण दोनों भाग लेते हैं। राष्ट्रीय त्योहारों के अतिरिक्त प्रत्येक खण्ड में स्थानीय शुभ दिन

मनाये जाते हैं, जिसमें परिवार के रक्षक देवताओं की पूजा होती है और स्थानीय धार्मिक रीति का पालन किया जाता है। प्रत्येक मास का आठवाँ, दसवाँ, पच्चीसवाँ और तीसवाँ दिन विशेष रूप से शुभ माना जाता है। पूर्णमासी तथा प्रतिपदा के दिन भी पवित्र माने जाते है। इन दोनों अंतिम दिनों में लोग पर्व के वस्त्र धारण करके स्थानीय मठों में जाते है, पैसा, फूल, धूप आदि चढ़ाते है। वेदी पर के पवित्र दीपक के लिए मक्खन भी चढ़ाया जाता है। इसके बाद लोग वेदी के सामने श्रद्धा भक्ति से शाष्टांग दंडवत करते हैं।

सबसे प्रसिद्ध लासा का नव-वर्ष का प्राथना दिन है, जो तिब्बतीय संवत् के अनुसार फरवरी में पड़ता है और यह उत्सव कई दिनों तक चलता रहता है। इस उत्सव में मकान और फाटक को झंडियों से खूब सजाये जाते हैं। नव-वर्ष के प्रथम संध्या से ही शेरा, ड्रिपिंग, गार्देन तथा अन्य बिहारों के लामा लासा नगर में आना प्रारम्भ करते है और दोपहर तक बीस हज़ार से अधिक लामा पुरोहित एकत्रित हो जाते है। आगे के दस दिनों तक लासा के बृहत् मंदिर जोकांग में धार्मिक कृत्य प्रतिदिन तीन बार होते हैं। दीपावली का त्योहार इस प्रार्थना के मास के पन्द्रहवे दिना मनया जाता है। समस्त बिहारों तथा नगर के महलों पर बहुत बड़ी संख्या में घृत के दीपक जलाये जाते हैं।

धर्म

प्राचीन काल में तिब्बत में बोन धर्म का प्रचार था जिसमें श्यामी धर्म की भाँति प्रकृति की पूजा होती थी। ये लोग भूत-प्रेतों की पूजा और उन्हें बलि प्रदान करते थे। ईसा की छठीं शताब्दि से पहले यहाँ भूत-प्रेतो की पूजा की ही प्रधानता थी, बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद इसमें धीरे-धीरे कमी हो गयी।

स्रंग-सन-गम-पो के राजत्वकाल में ६५० ई० के करीब बौद्ध धर्म तिब्बत का राज धर्म घोषित हुआ। स्रंग-सन-गम-पो की दोनों स्त्रियाँ बुद्ध धर्म की अनुयायिनी थीं। इन्होंने बुद्ध धर्म के प्रचार में विशेष योग दिया। इस नरेश की मृत्यु के बाद तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार का काम ढीला पड़ गया। सौ वर्ष बाद देश में एक नये सम्प्रदाय का उत्कर्ष हुआ। लगभग पांच सौ वर्षों तक इस सम्प्रदाय का तिब्बत में बड़ा ज़ोर रहा और इस धर्म द्वारा प्रचारित भ्रष्टाचार तिब्बत के अध:पतन का कारण हुआ। धीरे-धीरे इसके विरुद्ध आवाज उठी। ग्यारहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में ही भारत से महात्मा "अतीश" तिब्बत में गये, यह बंगाल के निवासी थे। इन्होंने "कदम पा" सम्प्रदाय चलाया, जो बाद में गेलुक चा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रचार से तिब्बत के आचरण में बहुत बड़ा सुधार हुआ। १५ वीं शताब्दी में संग काया ने महात्मा अतीश द्वारा कदमपा सम्प्रदाय का पुन संगठन किया जो पीली टोपी वाले सम्प्रदाय (पीताम्बरी) के नाम से प्रचलित हुआ। इस सम्प्रदाय की शक्ति बढ़ी और पाँच पीढ़ियों में ही यह तिब्बत का सर्वप्रिय सम्प्रदाय बन गया। इसके स्थिर सिद्धान्त तिब्बत में आज भी मान्य समझे जाते है।

तिब्बत में प्रचलित बौद्ध धर्म की प्रणाली लामा धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। तिब्बत का लामाधर्म अन्य देशों में प्रचलित बौद्ध धर्म से कई बातों में भिन्न है। लामाधर्म, श्यामी प्रकृति धर्म तांत्रिक रहस्य तथा भारतीय और तिब्बतीय प्रेत-पूजा का सम्मिश्रण है। इसमें यत्र-तत्र बुद्ध की शिक्षाओं का भी समावेश है। यह केवल आश्रमीय वैरागियों का ही धर्म नहीं, अपितु सर्वसाधारण में प्रचलित धर्म है, जिसका तिब्बत निवासियों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के हर पहलू से गहरा सम्बन्ध है।

सम्भवतः विश्व में सबसे अधिक संख्या लामाओं के देवताओं की है, जिनमें अनेक सन्त, देव, दानव और ऋषि-आत्माएँ सम्मिलित हैं। सर्व प्रसिद्ध देवता बुद्ध, अमिताभ और अवलोकितेश्वर माने जाते हैं। इसके बाद बोधिसत्वों का स्थान है, जिनमें भारतीय ऋषि तथा निर्माण प्राप्त लामा सम्मिलित हैं। इसके बाद अनेक शक्तियाँ, देवियाँ भी मान्य समझी जाती हैं। तदुपरान्त भारतीय ब्राह्मण, देवता तथा देवदूतों का स्थान है। ग्राम-देवता तथा देवतुल्य वीर पितरों की आत्माएँ भी पूज्यनीय हैं।

लामा धर्म के प्रभावशाली संरक्षक यहाँ के बिहार हैं, जिनकी संख्या तिब्बत में तीन हज़ार से भी अधिक है। इनमें अधिकांश प्राचीन हैं। लासा से पाँच मील की दूरी पर 'ड्रेपंग' सबसे बड़ा और शक्तिशाली विहार है, जिसमें लगभग दस हज़ार भिक्षु और लामा नियमित रूप से रहते हैं। शेरा के विहार में, जो लासा से तीन मील उत्तर है, करीब सात हज़ार लामा रहते हैं। यानदेन का विहार तिब्बत में सर्व प्रधान शिक्षा केन्द्र माना जाता है।

इन संस्थावों के व्यय का भार प्रधान रूप से सर्व साधारण जनता को उठाना पड़ता है। यद्यपि बहुतों में राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी जागीरें लगी हैं, तथापि लामाओं की अधिक संख्या के कारण उनके व्यय का भार अधिकतर जनता ही वहन करती है।

लामाओं को प्रत्येक वंश से एक लड़का पुरोहित के रूप में भरती करने की सुविधा प्राप्त है। तिव्वत का हर तीसरा व्यक्ति लामा होता है। प्रायः वंश का प्रथम पुत्र लामा बनता है। इस लड़के को धार्मिक जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वह आठ वर्ष की आयु तक अपने घर पर रहता है। इसके बाद वह विहार में भेजा जाता है और वहाँ पर छात्रावास में रहकर शिक्षा प्राप्त करता है। बौद्ध भिक्षुक के रूप में उसे कठिन अनुशासन तथा

धार्मिक नियमों को दृढ़ता से पालन करना पड़ता है। वह आजीवन अविवाहित रहता है।

तिब्बत की राज्य व्यवस्था

तिब्बत का शासक दलाई लामा होता है, जिसे तिब्बत पर भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रभुत्व पूर्ण रूप से प्राप्त है। पृथ्वी पर बुद्ध का उत्तराधिकारी होने के कारण दलाई लामा का मानवीय नरेशों में अपूर्व स्थान है। केवल तिब्बत में ही नहीं, दलाई लामा का धार्मिक अधिकार लद्दाख, सिक्खम, भूटान, तुर्किस्तान, पूर्वीय साइबेरिया योरोपीय रूस के कालमुक आदि प्रदेशों पर भी है।

लासा के भविष्य वक्ताओं के सहयोग से दलाई लामा के उत्तराधिकारी का चुनाव तिब्बत के तीन प्रधान बिहार ट्रिपिग, शेरा और यानदेन के प्रधान लामाओं द्वारा होता है। निर्वाचित दलाई लामा जब ७ वर्ष या इससे कुछ कम आयु के रहते है तभी वह लासा लाये जाते है और पोटाला महल में निवास करते है। जब तक वह अल्प वयस्क रहते है, एक नियत अभिभावक (Regent) शासन कार्य करता है, परन्तु १८ वर्ष की आयु प्राप्त होते ही दलाई लामा को पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। सम्भवत· विश्व में दलाई लामा ही सर्वोपरि अनियंत्रित शासक है जिन्हें शासन के सब अधिकार प्राप्त है। समस्त विचाराधीन, दीवानी, फौजदारी के मुकदमो तथा प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों में उसका निर्णय ईश्वरीय आज्ञा का महत्व रखता है। शासन-सम्बन्धी प्रत्येक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके सामने रक्खा जाता है। प्रत्येक विवरण के नीचे " "होना चाहिए या न होना चाहिए" वाक्य लिखा रहता है। दलाई लामा चमकीली नीली रोशनाई से, जिसे तिब्बत भर में उन्हीं को प्रयोग करने का अधिकार है, इन दो वाक्यों में से एक पर इच्छानुसार विंदु का चिन्ह लगा देते हैं।
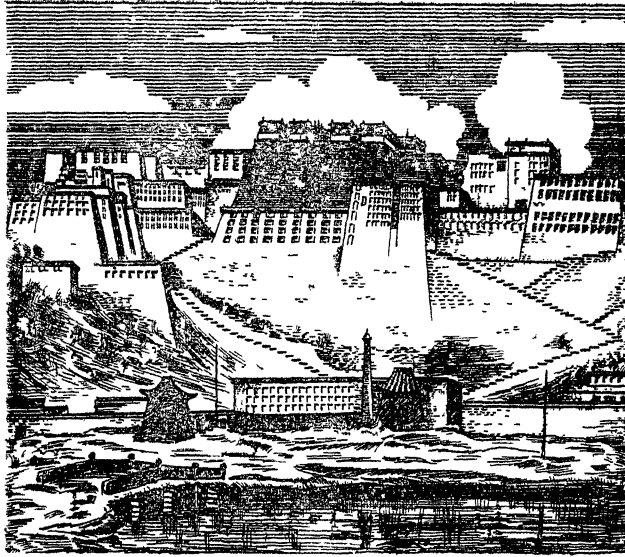
पोटाला पैलेस (दलाई लामा का निवास-स्थान)

शासन में सहायता देने के लिए दलाई लामा एक अधिकारी की नियुक्ति करते हैं जिसे "सिलोन" कहते हैं। यह अधिकारी मंत्रिमंडल और दलाई लामा के बीच मध्यस्थ का काम करता है। मंत्रिमंडल में चार सदस्य होते हैं, जिन्हें "शाय पेस" कहते हैं। प्रत्येक के अधिकार में एक या दो विभाग होते हैं। राज्य प्रबन्ध, न्याय, कृषि, अर्थ, सेना, पुलिस आदि कई विभागों में विभाजित है। विदेशीय नीति का संचालन स्वयं दलाई लामा करते हैं। मंत्रिमंडल के अतिरिक्त महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक राष्ट्रीय धारा सभा है, जिसे 'सांगदू' कहते हैं। इसकी बैठक विशेष अवसरों पर बुलाई जाती है। इसमें कुल ३५८ सदस्य हैं जिनमें चतुर्थ पद से ऊपर के सभी राज्य कर्मचारी, लासा के आस-पास के प्रसिद्ध बिहारों के लामा तथा बड़े जमींदार होते हैं। धारा-सभा में तिब्बत के राज्य कर्मचारियों की संख्या लामाओं तथा सर्व-साधारण के बराबर होती है।

राज्य प्रबन्ध के लिए तिब्बत १३ प्रान्तों में बँटा है जिनमें से प्रत्येक ५३ ज़िलों में विभाजित है। कुछ प्रान्तों के गवर्नरों को पूरा अधिकार है। ज़िले के प्रधान कर्मचारी 'जोगपेन्स' कहलाते हैं। इन पर ज़िले में शान्ति स्थापित रखने का उत्तरदायित्व है। ये अपने कार्य-क्षेत्र में राज्य-कर भी वसूल करते हैं। कुछ राजकीय विभागों में लामा लोग भी काम करते हैं।

सन् १६१४ ई० से तिब्बत की सेना में वृद्धि हुई है तथा पहले की अपेक्षा इसे अधिक समर्थ भी बनाया गया है। परन्तु इसके विस्तार में सबसे बड़ी बाधा धन की कमी है; जो राज्य-कर बढ़ा कर पूरा करना कठिन है। बिहारों के बढ़े हुए खर्च के बाद अन्य उपयोगी कार्यों के लिए बहुत कम धन शेष रहता है। देश की आधी आमदनी बिहारों के व्यय में लग जाती है। चतुर्थांश राज्य-परिवार के भरण-पोषण में व्यय होता है जिसके फलस्वरूप

अन्य आवश्यक कार्यों पर व्यय के लिए आय के साधन न्यूनतम है।

आर्थिक स्थिति

तिब्बत में खेती के योग्य भूमि यों ही कम है, श्रम के अभाव में उस भूमि की भी उन्नति नहीं हो सकी है। श्रम की कमी का कारण यह है कि तिब्बत के अधिकांश लोग लामा बन कर घरगृहस्थी से अलग हो जाते है। सामन्त और व्यवसायी वर्ग भी इस ओर से उदासीन रहता है, अतएव खेती करने वाले तिब्बत में अधिक लोग नहीं हैं। तिब्बत का प्रधान व्यवसाय व्यापार है। सभी वर्ग के लोग स्वयं अथवा अपने एजेन्टों द्वारा व्यापार करते हैं। जो लोग व्यापार नहीं कर पाते केवल वे ही लोग खेती करते है। तिब्बत में व्यापार की धुन ऐसी है कि दलाई लामा स्वयं, उनके राज कर्मचारी और दूसरे लोग भी व्यापार के लिए अपने एजेन्ट रखते है। ऊन तिब्बत का प्रधान व्यवसाय है। यहाँ इनकी सब से बड़ी मंडी कालिमयांग है। तिब्बत और भारत का आधे से अधिक व्यापार इसी मंडी से होता है। ऊन के अतिरिक्त तिब्बत से भारतवर्ष को कस्तूरी, याक की पूँछ, चँवर, समूर, शाल, पश्मीने, सोहागा, जड़ी-बूटियाँ, टट्टू, खच्चर और चमड़ा निर्यात होते है। भारत से तिब्बत आने वाली वस्तुओं में सूती कपड़े, मूँगा, जवाहिरात, चावल, शक्कर, तम्बाकू, धातु के बर्तन और तेल प्रधान है। तिब्बत और चीन के बीच भी व्यापार होता है। चीन से आने वाली वस्तुओं में चाय और रेशमी कपड़े मुख्य है। तिब्बत के बड़े-बड़े गाँवों में प्रायः प्रतिदिन बाजार लगते हैं, जिनमें लोग विभिन्न वस्तुएँ बेचते और खरीदते है। इन दूकानों पर अधिकांश स्त्रियाँ रहती है। तिब्बत के प्रायः प्रत्येक घर में कोई न कोई उद्यम होता है। ऊनी कपड़ा और कालीन बुनना यहाँ का

प्रधान उद्यम है। हाथ के कते सूत से तिब्बती अच्छे नमूने के कपड़े तैयार करते है। तिब्बत के सुनार सोने चांदी पर अच्छी नक्काशी करते हैं। इनकी बड़ी संख्या लासा और शिगत्से नगर में है। चांदी के सुन्दर कटोरदान और उनके ढक्कन तिब्बत के प्राय: प्रत्येक घर में देखने को मिलते हैं। लकड़ी और धातु के बर्तनों की नक्काशी और लोहे के काम भी यहाँ अच्छे बनते हैं। प्रधान नगरों के निकट पानी के स्थानों पर कागज़ बनाने का काम भी होता है। बड़े बिहार जहाँ छपाई का काम होता है, कागज़ बनाने का निजी प्रबन्ध करते है। कागज़ हाथ से बनाया जाता है। मोटे किस्म का कागज़ एक पेड़ की छाल से बनाया जाता है। पतले और अच्छे किस्म का कागज़ एक ज़हरीले पौदे की जड़ से बनाया जाता है। इसका ज़हरीलापन कागज़ को कीड़ों से नष्ट होने से बचाता है और इन जड़ों का बना हुआ कागज़ अच्छा और टिकाऊ होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों के बिना भी तिब्बत के लोग अपना काम चला लेते है और अपनी आवश्यकताओं की सारी वस्तुएँ तैयार कर लेते है।

भाषा और साहित्य

तिब्बत की भाषा तिब्बत-बर्मा परिवार की भाषा है, जिसमें कई बोलियाँ हैं। प्रधान बोलियाँ तीन है एक लासा और मध्य प्रदेश चू और त्सांग प्रान्त,में बोली जाती है, दूसरी पश्चिमीय बोली जो लद्दाख, लाहुल, बाल-हिन्दुस्तान और पुरंग प्रान्तों में बोली जाती है, तथा तीसरी खाम प्रदेश की पूर्वीय बोली है। हिमालय प्रदेश के ज़िलों में कई बोलियाँ बोली जाती है। इन विभिन्न बोलियों के होते हुये भी लासा की बोली साधारणत: थोड़ी बहुत देश भर में प्रचलित है। इसे तिब्बत में प्राय: सभी लोग समझते हैं।

तिब्बतीय भाषा में पाँच स्वर तथा तीस व्यंजन के अक्षर होते

हैं, और देवनागरी लिपि की भाँति बाये से दाहिने लिखे जाते हैं।

तिब्बत में साहित्य का प्रसार बौद्ध-धर्म के प्रचार के साथ-साथ हुआ। सातवी सदी के मध्य में स्रंग-सन-गम-पो के शासन काल में देवनागरी लिपि के आधार पर लिपि तथा तिब्बती भाषा के व्याकरण का निर्माण हुआ। संस्कृत और पाली ग्रन्थों के अनुवाद तिब्बती भाषा में किये गए।

तिब्बत में प्राय: सभी पुस्तकें धार्मिक बिषय की हैं। व्यवहारिक ग्रन्थो में इतिहास, कहानियाँ, संत-वाणियो के संग्रह, पौराणिक कहानियाँ तथा गीत हैं। धर्म-ग्रन्थो का निर्माण प्रधानतया ८ वीं, ९ वीं और ११ वीं से १३ वीं शताब्दियों मे हुआ। लामा-धर्म की पुस्तके अधिकांश संस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद है। कुछ चीनी भाषा से भी अनुवादित ग्रन्थ है। तिब्बत में सबसे पुराना अनुवादित ग्रन्थ 'थोमनी सम्भूत' है, जिसका अनुवाद तिब्बती भाषा में ६४५ ई० के आस-पास हुआ था। धर्म-ग्रन्थों के दो वृहद् संग्रह हैं 'कंगपूर' (बौद्ध-धर्म की व्यवस्था) और दूसरा 'तेंगपूर' " (बौद्ध धर्म की व्यवस्था पर टिप्पणी)। 'कंगपूर' १०८ भागों में और 'तेंगपूर' २२५ भागों में है। इन ग्रन्थो को ईश्वरीय सम्मान प्राप्त है। ये बहुत पवित्र माने जाते है और पवित्र स्थानो पर रखे जाते हैं। सुगन्धित धूप दीप से इनका पूजन होता है। यहाँ तक कि इनके फटे टुकड़े भी पवित्रता के साथ सुरक्षित रखे जाते है। इन ग्रन्थों को केवल लामा पढ़ा करते है। तिब्बत की समस्त पुरानी धार्मिक पुस्तकें हाथ की लिखी है जिन पर देवताओं और ऋषियों के चित्र तथा स्वस्तिक चिन्ह बने होते है।

तिब्बत और भारतवर्ष

परिस्थितियों के हेर-फेर से तिब्बत हमारे लिए आज एक अज्ञात और रहस्यमय देश बन गया है। परन्तु एक समय था

जब तिब्बत भारतवर्ष को अपना गुरु मानता था और दोनों देशों में सदियों तक घनिष्ट सम्पर्क रहा। भारतवर्ष ने तिब्बत को बौद्ध-धर्म के रूप में नया प्रकाश दिया और बोन धर्म की बर्बरता से उसका त्राण किया। तिब्बत में आज भी हमारे प्राचीन साहित्य का एक बहुत बड़ा भंडार पड़ा हुआ है।

तिब्बत के साथ हमारा सम्बन्ध प्रधानतः सांस्कृतिक और व्यवसायिक रहा है। ११ वीं सदी तक दोनों देश एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहे। परन्तु भारतवर्ष में मुसलमानी सत्ता के स्थापित होने के बाद तिब्बत से हमारा सम्पर्क टूट सा गया और थोड़े बहुत व्यापार के अतिरिक्त हम एक दूसरे से दूर हो गये। १७ वीं सदी के अन्त तक यही स्थिति बनी रही। भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के समय से तिब्बत के साथ हमारा सम्पर्क एक बार फिर बढ़ा। परन्तु ब्रिटिश कूटनीति ने तिब्बत के लोगों में भारतीयों के प्रति भी सन्देह और अविश्वास उत्पन्न कर दिया। भाग्यवश आज भारतवर्ष और तिब्बत दोनों स्वतंत्र देश हैं। अब पारस्परिक सन्देह और अविश्वास का कोई आधार नहीं है। भारतवर्ष अपने पड़ोसियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। स्वतंत्र भारत और स्वतंत्र तिब्बत एक दूसरे के प्रति उदासीन नहीं रह सकते। शक्तिहीन तिब्बत भारतवर्ष की सुरक्षा के लिए उतने ही खतरे की चीज़ है जितना शक्तिहीन भारतवर्ष तिब्बत के लिए। प्रसन्नता की बात है कि तिब्बत में आज जागृति की लहर उठ चुकी है। देश के शासक अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ बनाने में लगे हुये हैं। उनकी दृष्टि समाज-सुधार की ओर भी है। तिब्बत एक शक्ति-शाली राष्ट्र बने और भारतवर्ष के साथ उसके प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्ध की पुनरावृत्ति हो, यही भारतवर्ष की कामना है।

भूटान

भूटान संस्कृत "भोतान्त" का अपभ्रंश है। भोतान्त का अर्थ है "भोत" अथवा तिब्बत का सीमान्त प्रदेश। आज भी भूटान, तिब्बत और भारतवर्ष का सीमान्त प्रदेश है।

भौगोलिक स्थिति

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारतवर्ष से अलग भूटान का कोई निजी स्थान नहीं है। सचमुच भौगोलिक दृष्टि से भूटान भारतवर्ष का एक अभिन्न भाग है। उत्तर और पूर्व में तिब्बत, दक्षिण में दारजिलिंग और जलपाई गुड़ी और पश्चिम में सिक्खम भूटान की सीमाएँ निर्धारित करते हैं। पूर्व से पश्चिम भूटान का विस्तार १६० मील और उत्तर से दक्षिण ६० मील के लगभग है। इसका क्षेत्रफल १८ हज़ार वर्ग मील है जो आसाम के क्षेत्रफल का लगभग एक तिहाई है। वर्तमान जनसंख्या ३ लाख से कुछ अधिक बतलाई जाती है। भूटान की बनावट नैपाल और सिक्खम के समान है। सारा देश तीन प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है। बंगाल से मिला हुआ दक्षिण का भाग, जो नीची पहाड़ियों और घने जंगलों से ढका हुआ है। यहाँ वर्ष में २०० से लेकर ३०० इंच तक वर्षा होती है। यह भाग आर्द्र और गर्म है। इसमें बहुमूल्य लकड़ियों के विस्तृत जंगल हैं। मध्य भूटान साढ़े तीन हज़ार से लेकर दस हजार फीट तक की ऊँचाई पर बसा हुआ है। इस भाग में पहाड़ों के बीच उपजाऊ घाटियाँ हैं जिनमें अधिकांश भूटानी जनता रहती है। पारो, हा और पुनखा की विस्तृत घाटियों में अच्छी खेती होती है। मध्य भूटान का जलवायु

सुहावना होता है। भूटान की राजधानी पुनखा और ताशीसूदन, पारो, तांगसा आदि नगर भी इसी भाग मे स्थित है। उत्तर का भाग हिमालय की ऊँची-ऊँची पर्वत श्रेणियो से घिरा हुआ है जो प्रायः वर्ष भर बर्फ से ढकी रहती है। भयंकर सर्दी के कारण इस भाग में स्थायी रूप से रहने वालों की संख्या बहुत कम है। इन पर्वतो पर पशुओं और ढोरो के साथ चरवाहे और गड़रिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमा करते है। भूटान की नदियाँ इन्ही पर्वत श्रेणियो से निकल कर दक्षिण की ओर बहती हैं और आगे चलकर ब्रह्मपुत्र में मिल जाती हैं। मनस भूटान की सबसे बड़ी नदी है। दूसरी प्रधान नदियाँ माचू, तिन्चू, मन्ची, तोर्शा और धरला है। ये पहाड़ी नदियाँ यातायात की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है। धान भूटान की मुख्य उपज है। तिब्बत को चावल भूटान से मिलता है। धान के अतिरिक्त यहाँ ज्वार, महुआ, जौ, गेहूँ और सरसों की भी उपज होती है। मसालों मे दालचीनी और फलो में नारंगी भी यहाँ खूब पैदा होती है। धान और दालचीनी के अतिरिक्त लकड़ी और ऊन भूटान के मुख्य निर्यात है।

निवासी

भोटिये भूटान की प्रधान जाति है। भोटियों के अतिरिक्त भूटान के पूर्वी भाग में आसामी और पश्चिमी भाग में नैपाली लोग भी रहते है, परन्तु इनकी संख्या सीमित है। भोटियों का जातीय और सांस्कृतिक सम्बन्ध तिब्बत से है। उनकी आकृति, रहन-सहन और भाषा तिब्बतियों से मिलती-जुलती है। भूटान की संस्कृति पर तिब्बती संस्कृति की गहरी छाप का कारण यह है कि भूटान एक लम्बे अर्से तक तिब्बत के आधिपत्य में रहा है और इन दोनो देशों के बीच आदान-प्रदान अटूट रूप से चलता आया है। भोटिये बौद्ध-धर्म अथवा लामा-धर्म के अनुयायी हैं,

किन्तु व्यवहार में उनका धर्म प्रेत-पूजा है। देवी-देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए भोटिये मंत्र पढ़ते और तरह-तरह का धार्मिक अनुष्ठान करते है। अधिकांश भोटिये कृपि से अपनी जीविका कमाते है। व्यापार करने वालो की संख्या बहुत थोड़ी है। अकिंचन भोटिये कुली और मज़दूर का काम करते है। भोटिये मेहनतकश कौम हैं, परन्तु उनके चरित्र के सम्बन्ध में विदेशी यात्रियो ने तरह-तरह की टीका टिप्पणी की है। अधिकांश अंग्रेज़ यात्रियों और कर्मचारियो ने तो भोटियो के सामाजिक जीवन को अत्यन्त दूषित और गिरा हुआ बतलाया है। यह बात सच है कि भोटियो में वह सरलता और सत्यवादिता नहीं है जो नैपालियो में पायी जाती है, उनमें कतिपय चारित्रिक दोप भी है, परन्तु उनका चरित्र इतना दूपित नहीं है जितना कुछ अंग्रेज़ो ने बतलाया है। तिब्बत की तरह भूटान में भी बहु-पति प्रथा पाई जाती है। भूटानी स्त्रियों के आचरण पर जो आक्षेप सुनने में आते है उनकी जड़ में यही बहुपति प्रणाली है। भोटियों में विवाह-बन्धन की मान्यता इतनी ढीली है कि आये दिन स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध बनते और बिगड़ते हैं। पति-पत्नी का एक दूसरे का साथ छोड़ देना ही विवाह बन्धन को समाप्त करने के लिए पर्याप्त होता है। भोटियों में विवाह-सम्बन्धी और दूसरी मध्ययुगीय परम्पराओं के प्रचलन का प्रधान कारण यह है कि भूटान में शिक्षा का नितान्त अभाव है। आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से भूटान आज भी अछूता है। संसार में प्रायः भूटान ही एक ऐसा देश है जहाँ शिक्षितों की गणना उँगलियो पर की जा सकती है। भूटान में शिक्षा का अब तक कोई प्रबन्ध नहीं है। राज्य-परिवार और कुछ धनाढ्य घरों के लड़के दारजिलिंग आदि नगरों में शिक्षा के लिए जाने लगे हैं।

इतिहास

भूटान के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। भूटान पर जो पुस्तकें उपलब्ध हो सकी हैं उनमें इनके प्राचीन इतिहास का कोई उल्लेख नहीं मिलता। भूटान के आदि निवासी "तेफू" जाति के लोग सम्भवतः भारतीय थे, जिनको तिब्बतियों ने पराजित कर भूटान से निकाल दिया। भूटानी लेख-संग्रहों के अनुसार तिब्बती सेनाओं ने नवीं सदी में भूटान पर आक्रमण किया और भूटान के भारतीय शासकों और प्रजा को निकाल कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया। भूटान के 'तेफू' निवासियों और तिब्बतियों में बहुत दिन तक संघर्ष चलता रहा। अन्त में १७ वीं सदी में "तेफू" पराजित हुए और सारा देश तिब्बती सेनानायकों के आधिपत्य में आ गया। जिस समय बंगाल अंग्रेजों के अधिकार में आया, उस समय भूटान एक विस्तृत देश था और उसकी सीमा के भीतर दारजिलिंग, जलपाईगुड़ी और आसाम के द्वार भी सम्मिलित थे। सन १७७२ ई० से पहले ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भूटान से कोई सम्बन्ध नहीं था। उस समय तक भूटान के विषय में अंग्रेज प्रायः कुछ जानते भी न थे। उसी वर्ष भूटानी आक्रमणों से ऊब कर कूच बिहार के राजा दरेन्द्रनारायण ने ईस्ट इंडिया कंपनी से सैनिक सहायता माँगी। भूटानियों ने कूच बिहार को रौंद डाला और राजा तथा उनके भाई को बन्दी बनाकर भूटान ले गये। वारेन हेस्टिंग्ज़ ने कूच बिहार की सहायता के लिए अंग्रेजी सेना का एक दस्ता भूटान की ओर रवाना किया। आक्रमणकारी कूच बिहार से हटे। सन् १७७४ में तिब्बत के तासीलामा की मध्यस्थता पर युद्ध स्थगित हुआ। ब्रिटेन और भूटान के बीच सैनिक संधि हुई। भूटान-सरकार ने कूच बिहार के राजा को मुक्त कर दिया। इस

संधि के बाद ब्रिटिश भारत और भूटान के बीच आदान-प्रदान बढ़ा, परन्तु सीमा पर भूटानियों के आक्रमण बन्द न हुये। भूटानी आक्रमणों को रोकने के लिये समय-समय पर अंग्रेजों को सैनिक कार्रवाई करनी पड़ी और सीमा के विभिन्न द्वार क्रमशः स्थायी अथवा अस्थायी रूप से ब्रिटिश भारत में मिला लिये गये। सन् १८६४ में भूटान का युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध का कारण यह था कि सन् १८६४ में भोटियों ने बंगाल की सीमा में घुस कर भयंकर हत्या और लूट के कांड किये, सैकड़ों भारतीयों को गुलाम बनाकर भूटान ले गये। इस कांड का हरजाना वसूल करने के लिए ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सर एशले ईडन को भूटान भेजा। हरजाना देना तो दूर, भूटानियों ने ब्रिटिश दूत का अपमान किया और एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए उसे बाध्य किया। इस संधि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं ... भूटान और ब्रिटिश भारत के बीच समस्त विवादग्रस्त भूमि भूटान को दे दी जाय, भूटान और ब्रिटेन में मित्रता का सम्बन्ध रहे।

ब्रिटिश दूत के साथ इस अनुचित व्यवहार के फलस्वरूप सन् १८६५ में भूटान का युद्ध छिड़ गया। अंग्रेजी सेनाएँ भूटान पर चढ़ आयीं। बाध्य होकर भूटान सरकार को संधि की प्रार्थना करनी पड़ी। युद्ध स्थगित हुआ और नई संधि के अनुसार बंगाल और आसाम के समस्त 'द्वार' ब्रिटिश भारत में मिला लिये गये। भूटान में व्यापार करने की अंग्रेजों को स्वतंत्रता मिली। भूटान सरकार ने सिक्खम और कूच बिहार के साथ सीमा सम्बन्धी झगड़ों में अंग्रेजों द्वारा निर्णय करने की बात को स्वीकार किया। ब्रिटिश भारत में मिलाये गये भूटानी प्रान्तों के बदले में अंग्रेजों ने भूटान को अनुकूल व्यवहार की शर्त पर ५० हज़ार वार्षिक आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया। सन् १८६५ की संधि

के बाद भूटान और ईस्ट इंडिया कम्पनी के पारस्परिक सम्बन्ध प्राय: अच्छे रहे। केवल सन् १८८० में बिहार और सन् १८८६ में कामरूप पर भूटानी हमलों के कारण दोनों के सम्बन्ध में कुछ कटुता आ गयी और कुछ समय के लिए भूटान की आर्थिक सहायता बन्द कर दी गयी, परन्तु कुछ ही दिन बाद भूटान और भारत सरकार में फिर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम हो गये। सन् १६०७ ई० से यह मित्रता और भी दृढ़ हो गयी जिसके फलस्वरूप सन् १६१० ई० में चीन, भूटान और ब्रिटेन के बीच एक दूसरी संधि हुई जिसके अनुसार ब्रिटेन ने भूटान के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया। इस आन्तरिक स्वतंत्रता के बदले में भूटान ने अपने वैदेशिक सम्बन्धों में ब्रिटेन का नियंत्रण स्वीकार किया। अब तक चीन भूटान को अपना अधीनस्थ राज्य कहने का दावा करता था, इसी संधि में चीन ने यह दावा छोड़ दिया। इसी वर्ष भूटान को आर्थिक सहायता ५० हज़ार से बढ़ाकर १ लाख कर दी गयी। सन् १६४२ में इसे बढ़ा कर २ लाख कर दिया गया। भारत की राष्ट्रीय सरकार ने भी भूटान की यह आर्थिक सहायता जारी रक्खा है। और सन् १६४७ में यह सहायता दूनी कर दी गई।

शासन-प्रणाली

सन् १६०७ से पहले भूटान का शासन दो उच्च पदाधिकारियों के हाथ में था, जिन्हें "धर्मराजा" और "देवराजा" की उपाधि थी। धर्मराजा भूटान के धार्मिक प्रधान थे और देश का शासन-सूत्र देवराजा के हाथ में था। प्राचीन काल में धर्मराजा ही भूटान के वास्तविक शासक थे, परन्तु किसी समय धर्मराजा ने शासन-सम्बन्धी अधिकार देवराजा को सौंप दिया, तभी से भूटान में द्वैध शासन की प्रथा चली। तिब्बत के दलाई लामा की तरह धर्मराजा

का उत्तराधिकारी भी उन्हीं का अवतार समझा जाता था। धर्मराजा के मरने के बाद उसके अवतार की खोज होती थी और लामाओं द्वारा निर्धारित बालक धर्मराजा घोषित किया जाता था। देवराजा का पद निर्वाचित पद था। विधानतः देवराजा का निर्वाचन राजकीय परिषद् द्वारा होता था, किन्तु व्यवहार में देवराजा का पद पूर्वी और पश्चिमी भूटान के गवर्नरों के बीच सदैव प्रतिस्पर्धा का कारण बना रहा। इन दोनों शासकों में जो कोई अधिक शक्ति शाली होता था वह स्वयं अथवा उसका विश्वासपात्र व्यक्ति देवराजा बन जाता था। सन् १६०७ में धर्मराजा ने, जो उस समय भूटान के देवराजा भी थे, अपना पद त्याग दिया। धर्मराजा के पदत्याग के बाद भूटान के प्रमुख लामाओं और कर्मचारियों ने तांगसा के गवर्नर सर उगियन वांगचुक को भूटान का महाराजा घोषित किया। इस प्रकार सन् १६०७ से भूटान में पैतृक राजतंत्र का श्रीगणेश हुआ और धर्मराजा तथा देवराजा के पद समाप्त हो गये। सर उगियन वांगचुक के पुत्र तिगमी भी वांगचुक भूटान के वर्तमान महाराजा है।

भूटान के महाराजा स्वेच्छाचारी शासक है। शासन के प्रत्येक अंग पर उनका एकाधिकार है। उनके अधिकारों की कोई वैधानिक सीमा नहीं है। प्रान्तीय गवर्नरों और दूसरे प्रधान कर्मचारियों की नियुक्ति महाराजा ही करते है। भूटान में कुल ८ सूबे है। प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन के विभिन्न अंगों का वर्गीकरण नहीं है। न्याय-सम्बन्धी नियम मध्यकालीन है। गम्भीर अपराधों के लिए अपराधी के हाथ-पैर काट लिए जाते हैं, कभी-कभी नदी में फेंक दिये जाने का भी दण्ड दिया जाता है। प्रायः कर्मचारियों को वेतन के स्थान पर जागीरें दी जाती हैं। उन जागीरों से राजकर्मचारी मनमाना लाभ उठाते है। भूटान के राज-कर्मचारियों के

विषय में अंग्रेजों ने कड़ी आलोचना की है और उनको प्रजा का पीड़क और शोषक बतलाया है। १६ वीं सदी से भूटान की स्थिति में आज कितना अन्तर है इसका हमें समुचित ज्ञान नहीं है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आज भी भूटान की शासन-प्रणाली में पहले से कोई विशेष अन्तर नही है। जनतंत्र, सामाजिक स्वतंत्रता और आर्थिक स्थिरता ऐसी कोई वस्तु अभी वहाँ नही है। भूटान की जनता आज भी अनेक मध्यकालीन सामन्तवादी परम्पराओं से दबी हुई है। भूटान में राजनैतिक जागृति के कोई लक्षण नही दिखलाई पड़ते। भूटानी जनता आज भी मध्यकालीन निद्रा से मुक्त नहीं हो पाई है। लंका, बर्मा, नैपाल आदि पड़ोसी राष्ट्रों में भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट है, किन्तु भूटान की सीमा में इसकी लहर नही पहुँच सकी है। किसानों के भूमि सम्बन्धी अधिकार प्राय: नहीं के बराबर है। सामन्तों और राज कर्मचारियों के शोषण से त्राण के लिए उनके पास कोई वैधानिक उपाय नही है। ग़रीब भोटियों की स्थिति गुलामों से अच्छी नहीं कही जा सकती।

आर्थिक स्थिति

सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से भी भूटान एक मध्य-कालीन देश है। सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में आधुनिकता का लेशमात्र भी प्रभाव भूटान में दृष्टिगोचर नहीं होता। सदियों से देश की आर्थिक व्यवस्था, उत्पादन आदि साधनों मे कोई अन्तर नहीं हुआ है। भूटान सरकार की वार्षिक आय लगभग ४ लाख रुपये है। भूटान के विस्तार और उसके प्राकृतिक साधनों के देखते हुए यह आय बहुत कम है। भूटान में प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है। कमी केवल इस बात की है कि इन प्राकृतिक साधनों का समुचित विकास नहीं हो सका है। देश के

विभिन्न भागों में लोहा, चाँदी, ताँबा, पीतल आदि धातुएँ पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं। बोरशांग में लोहे की एक बड़ी खान है। यदि वैज्ञानिक ढंग से इन खनिज द्रव्यों का अन्वेषण किया जाय तो सम्भवतः भूटान की आय में कई प्रतिशत वृद्धि हो जाय। भूटान सरकार की आय का प्रधान साधन कृषि है, किन्तु देश की भौगोलिक स्थिति और भूमि-सम्बन्धी नियमों की अस्थिरता के के कारण कृषि की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं है। भूटान में उपयोगी लकड़ियों के विस्तृत जंगल हैं। किन्तु यातायात की कठिनाइयों के कारण इन जंगलों की व्यवसायिक उपयोगिता बहुत कुछ सीमित है। भूटान संसार के उन इने-गिने देशों में है जहाँ यातायात के साधन प्रायः शून्य है। यातायात की असुविधा देश की व्यवसायिक प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। पहाड़ी टट्टूओं के अतिरिक्त भूटान में यातायात का कोई दूसरा साधन नहीं है। परन्तु यातायात और दूसरी कठिनाइयों के होते हुए भी भूटान के लोग अपनी आवश्यकता की अधिकांश वस्तुएँ अपने ही देश में बना लेते है। ऊनी कपड़े तो भूटान के प्रायः हर घर में तैयार किये जाते है, किन्तु सूती कपड़े के लिए भूटान को भारत और विदेशों की राह देखनी पड़ती है।

भूटान और भारत

संसार के देशों में भूटान का सम्बन्ध प्रधानतः तिब्बत और भारत से है। सांस्कृतिक दृष्टि से तो भूटान तिब्बत के प्रभाव क्षेत्र में है, किन्तु भौगोलिक दृष्टि से यह सदैव भारतवर्ष का अभिन्न भाग रहा है। आज भी भूटान का अधिकांश व्यवसाय भारतवर्ष के ही साथ होता है। भूटान भारतवर्ष को ऊन, लकड़ी, मसाले और लाह देता है। भारतवर्ष भूटान को सूती कपड़े, मशीन के पुर्जे और जूट देता है। इतना ही नहीं, बाहरी दुनियाँ

से भूटान का सम्पर्क भी भारतवर्ष से होकर है। ब्रिटिश आधिपत्य के समय हम एक दूसरे से अलग रहे और सम्भवतः एक दूसरे की उपेक्षा करते रहे। किन्तु स्वतंत्र भारत और स्वतंत्र भूटान को एक दूसरे के निकट आना और रहना है। पृथकत्व की भावना हम में से दोनों के लिए घातक सिद्ध होगी। अभी कुछ दिन हुए भूटान और सिक्खम के राजाओं ने अपने देश को तिब्वत में मिलाने की माँग की है। भारतवर्ष से पृथक् रहने की माँग का कारण स्पष्ट है। भूटान और सिक्खम के शासक भारतवर्ष में जनतंत्र के बढ़ते हुए प्रवाह से चिन्तित हो चले हैं। उन्हें भय है कि भारतवर्ष के दूसरे देशी राजों की तरह कहीं उन्हे भी जनमत के सामने झुकना न पड़े। वे अपनी मध्ययुगीय प्रतिष्ठा और परम्परा को छोड़ने के लिए अभी तैयार नहीं हैं। भूटान और सिक्खम को भारतवर्ष के साथ रहना है या उन्हें तिब्बत में मिल जाना है, इस निर्णय का अधिकार वहाँ की जनता को है। इस सम्बन्ध में हमें केवल इतना ही कहना है कि भूटान और सिक्खम की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए यही कहा जायगा कि उनका भविष्य भारतवर्ष के साथ है।

नैपाल

भौगोलिक स्थिति

भारतवर्ष के बाहर नैपाल के सम्बन्ध में लोगों की जानकारी बहुत कम है। प्रायः लोग इसे भारतवर्ष का ही अंग समझते हैं। नैपाल के विषय में विदेशियों की यह धारणा किसी अंश तक ठीक भी है क्योंकि राजनैतिक दृष्टि से पृथक होते हुए भी नैपाल भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारतखंड का एक अभिन्न भाग है। इसकी सीमाएँ पूर्व-दक्षिण और पश्चिम में भारतवर्ष से मिली हुई हैं। उत्तर में तिब्बत, पश्चिम में कुमायूँ, दक्षिण में संयुक्त प्रान्त और बिहार के उत्तरी जिले और पूर्व में दारजिलिङ्ग और सिक्खम नैपाल की सीमाएँ निर्धारित करते हैं। नैपाल का क्षेत्रफल ५४ हजार वर्गमील और वर्तमान जनसंख्या ६० लाख के निकट है।* पूर्व से पश्चिम तक इसकी लम्बाई लगभग ५२० मील और उत्तर से दक्षिण तक इसकी चौड़ाई कम से कम ६० मील और अधिक से अधिक १४० मील है। नैपाल पहाड़ी और कंकरीला देश है। बनावट के विचार से इसके प्रधानतः तीन भाग किये जा सकते हैं। उत्तर का ऊँचा पहाड़ी भाग, मध्य की घाटी और दक्षिण की तराई के जंगल और नीची पहाड़ियाँ। नैपाल की उत्तरी सीमा पर हिमालय की धौनागिरि मत्सिपुत्र, गौरीशंकर, माउन्ट एवरेस्ट, किंचिचिंगा आदि प्रसिद्ध चोटियाँ स्थित हैं। उत्तर भारत की सारदा, सूर्य, राप्ती, गंडक, बागमती, कोसी, आदि नदियाँ इन्ही पर्वतश्रेणियों से निकलती हैं। मध्य की

---

* 'नैपाल' लेखक प्रोफेसर दिल्ली रमण रेग्मी। पृष्ठ ९

नैपाल में पशुपतिनाथ के मंदिर का दृश्य

घाटी एक उपजाऊ और सुन्दर प्रदेश है। अधिकांश नैपाल जनता इसी घाटी में रहती है। नैपाल की राजधानी काठमांडू और पाटन, भाटगांव आदि दूसरे नगर भी इसी भाग में स्थित हैं। काठमांडू भारतीय सीमा से ७५ मील की दूरी पर है। दक्षिण की तराई का भाग घने जंगलों से ढँका हुआ है। इस भाग में धान और गन्ने की अच्छी उपज होती है।

नैपाल का जलवायु बहुत कुछ कुमायूँ प्रांत के जलवायु से मिलता है। ऋतुएँ भी उत्तरी भारत-जैसी होती हैं। अक्टूबर से अप्रैल तक का समय बड़ा ही सुहावना होता है। जाड़ों में उत्तरी भाग का तापमान २५ डिग्री तक गिर जाता है और बर्फ जमने लगता है। धान नैपाल की मुख्य उपज है। तराई और मध्य की घाटियों में धान की अच्छी उपज होती है। धान के अतिरिक्त नैपाल में गेहूँ, दालें, मसाले, तम्बाकू और जूट भी पैदा होते हैं। नैपाल पशुधन और जंगलों में भी बहुत धनी है। पहाड़ों पर पशुओं के ढेर बहुत बड़ी संख्या में रहते है। देश की दक्षिणी सीमा पर फैले हुए साखू और दूसरी बहुमूल्य लकड़ियों के विस्तृत जंगल है।

निवासी

नैपाल विभिन्न जातियों का अड्डा है। समय-समय पर तिब्बत, मध्य एशिया और भारतवर्ष से विभिन्न जाति के लोग यहाँ आकर बस गये। नैपाल में बाहर से आनेवाले जत्थों में से लगभग एक दर्जन आज भी देश के विभिन्न भागों में पाये जाते है। नैपाल के उत्तरी भाग में तिब्बती और भोटिये, पश्चिम में गुरुंग और मगमार, मध्य में गोरखे, नेवार और मुरमी, पूर्व में किराती, लिम्बस और लेप्चा तथा दक्षिण की तराई में उत्तरी भारत के लोग रहते हैं। नैपाल की जातियों में से गोरखे, नेवार और तराई के लोग भारतीय हैं। अन्य जातियाँ

अपने रूप-रंग और आकृति से मंगोल-उत्पत्ति की जान पड़ती हैं। गोरखा अथवा (गोरखाली) नैपाल की प्रधान जाति है। गोरखे उच्च वर्ण भारतीय हिन्दुओं की संतान है और अधिकांश राजपूत हैं। मुसलमानी आक्रमण के समय ये लोग भारतवर्ष छोड़कर नैपाल चले गए। 'वंशावली' (नैपाली इतिहास) के अनुसार नेवार जाति के पूर्वज बंगाल से नैपाल आये। परन्तु नेवारों की भाषा और उनकी आकृति से ऐसा जान पड़ता है कि ये लोग दक्षिण भारत के किसी प्रांत से नैपाल में आये होंगे। गोरखा आधिपत्य से पहले नैपाल में नेवारों का शासन था।

नैपाल का राजधर्म हिन्दू-धर्म है। गोरखे, मगयार, और गुरुंग सनातनी हिन्दू हैं। भोटिये, नेवार, लिम्बस, किरती, लेचा और तिब्बती लोग बौद्ध-धर्म के अनुयायी है। किन्तु नैपाल का बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म से इतना प्रभावित है कि आज उसका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है। नैपाल के बौद्ध हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा करते है और हिन्दू-त्योहारों को मनाते है। नैपाल में जितने जत्थे है प्रायः उतनी ही अलग-अलग बोलियाँ भी है। गोरखों की भाषा, 'परबतिया' नैपाल की प्रधान भाषा है। मध्य और पश्चिम के प्रांतों में अधिकांश लोग इसी भाषा का प्रयोग करते है। यह भाषा संस्कृत का एक अपभ्रंश है और नागरी-लिपि में लिखी जाती है। भोटियों की भाषा तिब्बती हैं। नेवार जाति के लोगों की बोली इन सबसे भिन्न है। नैपाल में संस्कृत के जानने वाले भी पर्याप्त संख्या में हैं।

इतिहास

नैपाल का प्राचीन इतिहास उत्तरी भारत के इतिहास से संबद्ध है। किन्तु अभी तक प्राचीन नैपाल का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिल सका है। चौथी सदी में पूर्वी नैपाल पर लिच्छवि वंश के आधिपत्य का प्रमाण मिलता है।

लिच्छवि वंश के राजाओं ने देश पर लगभग ६ सौ वर्षों तक राज्य किया। ७वीं सदी में पश्चिमी नैपाल ठाकुरी वंश के राजाओं के अधीन रहा। नैपाल के प्राचीन इतिहास का वर्णन नैपाल की "वंशावली" में दिया गया है। परन्तु "वंशावली" को स्पष्टरूप से इतिहास नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसके प्रारंभिक प्रकरण अधिकांश पौराणिक हैं। तिथियों का भी कोई तारतम्य नहीं मिलता। "वंशावली" सतयुग के किसी काल से आरंभ होती है जब नैपाल की घाटी एक झील थी। इसके बाद त्रेतायुग का वर्णन है। कलियुग का इतिहास "गुप्तवंश" के आधिपत्य से आरंभ होता है। इस "गुप्तवंश" के संस्थापक "नेमुनि" थे जिनके नाम पर इस देश का काम 'नैपाल' अथवा 'ने' द्वारा रक्षित और प्रतिपालित देश पड़ा।* गुप्तवंश के बाद, अहीर, किराती, सोमवंशी, सूर्यवंशी ठाकुरी, वैश्य ठाकुरी और करनाटकी राजवंशों का उल्लेख आता है। इन वंशों ने कब से कब तक नैपाल पर राज्य किया इसका कुछ पता नहीं चलता। ईसा की १४ वीं सदी से वंशावली की तिथियाँ कुछ निश्चित् जान पड़ती हैं। सन् १३२४ में सिमरौन के राजा हरीसिंह देव ने नैपाल पर चढ़ाई की। अनुमान किया जाता है कि सिमरौन उस समय उत्तरी भारत का कोई राज्य रहा होगा। तुगलक शासकों द्वारा पराजित होकर हरीसिंह नैपाल की ओर बढ़े और उसे जीतकर अपने अधीन किया। हरीसिंह का वंश नैपाल के इतिहास में "अयोध्यावंश" के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश में चार राजा हुए जिनके बाद "राजपूतवंश" के जयमल ने नैपाल पर अधिकार कर लिया। इस

* 'ने' शब्द का प्रस्तुत अर्थ यनसाइक्लो पीडिहा ब्रिटैनिका के आधार पर है। नैपाली नेता प्रोफेसर दिल्लीरमण रेग्मी ने इस शब्द का अर्थ 'केन्द्र' अथवा 'मध्य में स्थित' बतलाया है। नैपाल हिमालय के केन्द्र में स्थित है।

वंश के आठवें राजा यक्षमल के समय में नैपाल चार छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया जिनमें से तीन गोरखा-उत्थान के समय (सन् १७६८) तक कायम रहे। नैपाल के पहले गोरखा राजा पृथ्वी नारायण थे। पृथ्वीनारायण राणावंश के थे, जिनके नेतृत्व में गोरखों ने पूरे नैपाल पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। यही राणावंश आज भी नैपाल पर शासन कर रहा है। राणावंश के लोग राजपूत हैं जो अपना संबंध चित्तौड़ के राजवंश से जोड़ते हैं। सन् १७६० ई० में चीन की सेनाओं ने नैपाल पर चढ़ाई किया। नैपाल पराजित हुआ और राजा ने चीनी सम्राट् को अपना शहंशाह स्वीकार किया। चीन और नैपाल का यह संबंध १६ वीं सदी के मध्य तक रहा। मन्चूवंश की शक्ति जब क्षीण होने लगी तो चीनी साम्राज्य के अन्य कई अधीनस्थ राज्यों की तरह नैपाल ने भी चीन से संबंध विच्छेद कर दिया।

नैपाल में ब्रिटिश प्रभाव

जिस समय नैपाल में गोरखा आधिपत्य स्थापित हुआ उससे कुछ वर्ष पहले बंगाल और बिहार ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में आ गए थे। बंगाल और बिहार पर अधिकार हो जाने के बाद अंगरेजों की दृष्टि नैपाल पर पड़ी। सन् १७६८ ई० में नैपाल और ब्रिटिश ईस्टइन्डिया कम्पनी के बीच एक व्यवसायिक संधि हुई और अंगरेज एजेन्ट काटमांडू में रहने लगा। परंतु इसी बीच नैपाल और कम्पनी के बीच सीमा संबंधी झगड़े आरंभ हो गए। सन् १७६४ ई० में अंगरेज एजेन्ट काटमांडू से वापस आया। झगड़े का कारण यह था कि मुगल साम्राज्य के पतन के बाद नैपाल के शासकों ने उत्तरी भारत के एक विस्तृत भाग पर अधिकार कर लिया था। उत्तरी भारत जब ब्रिटिश ईस्ट इन्डिया कम्पनी के आधिपत्य में आया तो सीमा संबंधी झगड़े उठ खड़े हुए। परंतु सीमा संबंधी

झगड़ा तो नैपाल-ब्रिटिश वैमनस्य का केवल बाहरी पहलू था। इस वैमनस्य का आन्तरिक कारण यह था कि अंगरेज नैपाल में किसी प्रकार अपना पैर जमाना चाहते थे। नैपाल की स्वाधीनता उनको खटक रही थी। इधर नैपाल के शासक भी ईस्टइण्डिया कम्पनी के इरादों से सशंकित थे। अतएव संघर्ष अनिवार्य हो गया। सन् १८१४ में गोरखों द्वारा बिहार की सीमा पर आक्रमण के प्रश्न को लेकर अंगरेजों ने नैपाल पर चढ़ाई कर दी। अंगरेजी सेनाएँ नैपाल की सीमा को पार कर काटमांडू के समीप पहुँच गई। स्थिति को बिगड़ती देख नैपाल सरकार ने सन्धि का प्रस्ताव किया। युद्ध स्थगित हुआ और सन् १८१५ ई० में सुगौली की सन्धि हुई जिसके अनुसार ब्रिटिश भारत और नैपाल की सीमाएँ निर्धारित की गई। नैपाल में अंगरेजों को व्यापार संबंधी सुविधाएँ मिलीं और दोनों पक्षों ने राजदूतों का आदान-प्रदान करना स्वीकार किया। इसी सन्धि में नैपाल सरकार ने यह भी स्वीकार किया कि ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना नैपाल में कोई योरोपियन राजकर्मचारी नहीं रखा जायगा। इस सन्धि के बाद ब्रिटेन और नैपाल का सम्पर्क बढ़ा और इस सम्पर्क से दोनों पक्षों ने पूरा लाभ उठाया। नैपालियों को ब्रिटिश सेना में स्थान मिला, अंगरेजों को अच्छे सैनिक मिले। आगे चलकर यही गोरखे भारतवर्ष में ब्रिटिश सत्ता के स्तम्भ बने। सन् १९२३ में ब्रिटिश सरकार और नैपाल के बीच एक दूसरी सन्धि हुई, जिसमें अंगरेजों ने नैपाल की आन्तरिक और वैदेशिक स्वतंत्रता को स्वीकार किया। भारतवर्ष में ब्रिटिश आधिपत्य के अन्त तक नैपाल और ब्रिटेन के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना रहा। अगस्त सन् १९४७ के बाद भारत में स्थित नैपाली सेना के अधिकांश सैनिक भारतीय सेना में चले आये तथापि आज भी ब्रिटिश सेना में कई नैपाली दस्ते वर्तमान है।

शासन

नैपाल का शासन शासक सूत्र वहाँ के राणावंश के हाथ में है। नैपाल संसार के उन इने-गिने देशों में है जहाँ सामन्त-शाही आज भी शासनारूढ है और अभी तक उसके विघटन के कोई लक्षण दिखलायी नहीं पड़ते। नैपाल के मध्यम वर्ग में सामन्तों के स्वेच्छाचारी शासन के प्रति असंतोष है और पिछले दो वर्षों से नैपाली कॉंग्रेस अपने देश में नागरिक स्वतंत्रता और उत्तरदायी शासन के लिए आंदोलन कर रही है, सामन्त वर्ग आज भी शासनारूढ़ है, किन्तु जन-आन्दोलन से वह अधिकाधिक प्रभावित हो रहा है। सन् १९४९ में कुछ वैधानिक सुधारों की घोषणा की गई थी, परन्तु सुधार की कोई भी योजना अबतक कार्यान्वित नहीं हो सकी है। कहा जाता है कि नैपाल सरकार विधान में कुछ परिवर्तन करने का विचार कर रही है।

विधानतः नैपाल का शासक वहां का महाराजा है जिसे 'पांच सरकार' कहते हैं। पांच सरकार की नैपाल में देवता की तरह पूजा होती है, परन्तु शासन में उसका कोई हाथ नहीं है। नैपाल का वास्तविक शासक प्रधान मंत्री होता है जिसे 'तीन सरकार' कहते हैं। शासन के प्रत्येक अंग पर उसका नियंत्रण रहता है। उसके अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। "पांच सरकार" उसके किसी कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। यह बात आश्चर्यजनक है, पर राजा और प्रधान मंत्री के बीच एक समझौते के अनुसार यह परम्परा लगभग १०० वर्षों से चली आ रही है। "पांच सरकार" की तरह "तीन सरकार" का पद भी पैतृक है किन्तु उसका उत्तराधिकारी उसका लड़का नहीं, भाई होता है। प्रधान मंत्री के पद के लिए उसके कुटुम्ब में प्रायः षड्यंत्र चला करते हैं और उसे इन षड्यंत्रों से बचने से लिए हर क्षण सावधान रहना पड़ता है। यहाँ तक कि उसका अधिकांश समय इन्हीं कौटुम्बिक

षड्यंत्रों का पता लगाने और उन्हे विफल करने में लगा रहता है। पिछले १०० वर्षों से नैपाल में जितने आन्तरिक संघर्ष हुए हैं उनमें अधिकांश का सम्बन्ध प्रधान मंत्री के कौटुम्बिक षड्यंत्रों से रहा है। अतः इसमें आश्चर्य ही क्या कि नैपाल में प्रधान मंत्री का अन्त प्रायः दुःखद रहा है। या तो वे इन षड्यंत्रों के शिकार बन जाते हैं अथवा अपनी रक्षा के लिए देश छोड़ देते हैं। अब तक केवल दो प्रधान मंत्रियों को शान्तिपूर्वक पदत्याग करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

प्रधान मंत्री एक शासन परिषद् की सहायता से शासन करता है। इस शासन-परिषद् में तीन सरकार के सम्बन्धी, सेना के प्रधान कर्मचारी और राजगुरु रहते हैं। शासन सम्बन्धी हर महत्वपूर्ण प्रश्न पर प्रधान मंत्री इस परिषद् की राय लेता है यद्यपि वह इसकी राय मानने के लिए बाध्य नहीं है। यह राज परिषद् देश में सबसे उच्च न्यायालय का भी काम करता है। नैपाल में कुल ६१ जिले हैं। ज़िले का प्रधान कर्मचारी 'बड़ा हाकिम' कहलाता है। उसका काम बहुत कुछ हमारे ज़िला मजिस्ट्रेटों की तरह है। शासन के अतिरिक्त वह माल के मुक़दमों का फैसला करता है। उसकी सहायता के लिए हर ज़िले में एक दूसरा कर्मचारी होता है जिसे 'मालसूबा' कहते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले तक नैपाल का दंड-विधान मध्य युगीय था। गंभीर अपराधों के लिए अपराधी के हाथ-पैर काट लिये जाते थे। कई वर्ष हुए अंग-भंग की प्रथा बन्द कर दी गई। आज हत्या, राजद्रोह आदि अपराधों के लिए प्राण-दंड दिया जाता है। गोहत्या भी नैपाल में इसी वर्ग का अपराध समझा जाता है। जाति के नियमों का उल्लंघन भी दंडनीय है। नैपाल के दंड-विधान की एक विशेषता यह है कि कुछ अपराधों में अपराधी अपने बदले में किसी सम्बन्धी को देकर कारागार से

मुक्त हो जाता है और उसके स्थान पर उसका सम्बन्धी दंड का भागी बन जाता है। दीवानी और फौजदारी मुक़दमों के लिए हर ज़िले में एक न्यायालय होता है, जिसे नैपाल की भाषा में "अद्दा" कहते हैं। "अद्दा" सम्भवतः अदालत का अपभ्रंश है। अद्दा के फैसलों की अपील काठमांडू में होती है। अपील में यदि किसी मजिस्ट्रेट का फैसला उलट गया तो उसे भी दंड दिया जाता है। फैसला उलट जाने के भय से प्रायः मजिस्ट्रेट कत्ल आदि के मुकदमों का फैसला जल्दी नहीं करते। कत्ल के मुकदमें प्रायः कई वर्ष तक चलते रहते है।

आर्थिक और सामाजिक स्थिति

सामन्तवादी समाज की आर्थिक और सामाजिक स्थिति साधारणतः जैसी हुआ करती है वैसी ही स्थिति नैपाल की भी है। नैपाल का सामन्त वर्ग जितना ही वैभवशाली और समृद्ध है, उसका किसान और मज़दूर वर्ग उतना ही अकिंचन है। सामन्तों को अपने ऐश्वर्य के उपयोग के लिए समुचित साधन नहीं मिलते, किसान और मज़दूरों को दिन भर बैल की तरह परिश्रम करने के बाद पेट भर भोजन नहीं मिलता। नैपाल के गरीब मज़दूर कुली और डोटियाल बन कर अपने देश और देश के बाहर किसी प्रकार पेट पालते हैं। उनका परिश्रम और उनकी गरीबी दोनों अवर्णनीय है। अपने देश में तो उनकी स्थिति गुलामी से अच्छी नहीं कही जा सकती। कभी-कभी वे आजन्म सामन्तों के गुलाम बने रहते है।

तिब्बत की तरह नैपाल में भी किसानी करने वाले बहुत थोड़े लोग हैं। गोरखे तो परम्परा से सेना में जाते हैं और अधिकांश अपने देश के बाहर सैनिक जीवन व्यतीत करते हैं। मजदूरों के पास खेत और खेती करने के साधन नहीं हैं।

खेती का काम अधिकतर मेवार लोग करते हैं। नैपाल में भूमि की कमी नहीं है। तराई क्षेत्र में चार आने और आठ आने बीघे लगान पर भूमि उपलब्ध है। परन्तु इस क्षेत्र का जलवायु इतना दूषित है कि वहां स्थायी रूप से रहना सब के लिए सम्भव नही है। घाटी में कुछ अच्छी भूमि है, परन्तु उसका अधिकांश भाग बड़े-बड़े जागीरदारों और विर्तदारों के क़ब्जे में है जिन पर नैपाल सरकार का नियंत्रण नाम मात्र के लिए है। ये विर्तदार किसानों से मनमाना लगान वसूल करते हैं और स्वयं नैपाल सरकार को कर नहीं देते। नैपाल सरकार की वार्षिक आय लगभग ६ करोड़ है। इस आय का प्रधान साधन कृषि है। यदि जागीरदारों और विर्तदारों से कर लिया जाय तो सरकारी आय में कई प्रतिशत वृद्धि हो जाय। उद्योग नैपाल में अभी तक प्रायः नहीं के बराबर है । भारत की सीमा पर विराटनगर और वीरगञ्ज में दो जूट और एक सिगरेट की फैक्टरियाँ खो गई ली है। वस्त्र, मशीन और दूसरी आवश्यक चीजे विदेशों से आती हैं। नैपाल में प्राकृतिक साधनों की कमी नही है। लोहा, सीसा, तांबा, अबरक, गिलट आदि धातुएँ पर्याप्त मात्रा में है। तराई के क्षेत्र में कागज़ और दियासलाई बनाने के पर्याप्त साधन है। परन्तु औद्योगिक विकास के लिए जिन-जिन बातों की आवश्यकता होती है उनमें से अधिकांश नैपाल में नहीं है। यातायात की कठिनाइयाँ नैपाल के औद्योगिक विकास में प्रायाः सब से बड़ी बाधा है। नैपाल की सीमा के अन्दर रेल की सड़कें केवल दो है। एक सड़क बिहार के रकसौल जंकशन से अमलक गंज तक है। नैपाल की सीमा में यह लाइन केवल २५ मील है। यह लाइन सन् १६२७ में बनी। दूसरी लाइन जयनगर से जनकपुर होते हुए बिजुलपुरा तक गई है। यह लाइन ६५ मील लम्बी है। यह लाइन अभी सन १६४० में बनाई गई है। पहाड़ों के पगडंडी मार्ग में यातायात के एक मात्र

साधन पहाड़ी टट्टू हैं। इन्हीं टट्टूओं पर व्यापारी एक जगह से दूसरी जगह सामान ले जाते है। भीमपेड़ी से काठमान्डू तक बिजली की रस्सी लग जाने से वजनी सामान के ले आने और ले जाने में काफी सुविधा हुई है। युद्ध के बाद से नैपाल सरकार का ध्यान देश के औद्योगिक विकास की ओर कुछ हुआ है। विद्युत उत्पादन की एक विशाल योजना काठमांडू में तैयार की जा रही है। आशा की जाती है कि यदि विद्युत योजना सफल हुई तो काठमांडू में बड़े पैमाने पर कुछ उद्योग आरम्भ किये जा सकेगें। पश्चिमी प्रांतों में टेलीफोन लगाये जाने की भी तैयारी हो रही है।

देश के आर्थिक विकास के लिए नैपाल सरकार ने एक कमीशन नियुक्त किया है। यह कमीशन नैपाल में एक विश्व-विद्यालय, मेडिकल स्कूल और टेकनिकल स्कूल खोलने की योजना तैयार करेगा। नैपाली विद्यार्थी टेकनिकल शिक्षा प्राप्त करने के लिये विदेशों में भेजे जायेंगे।

नैपाल में भारतवर्ष की तरह अथवा यहाँ से भी अधिक जाति-पाँति का भेदभाव माना जाता है। जाति के नियमों का अक्षरशः पालन हो रहा है। धर्म के प्रति लोगों की श्रद्धा में अभी तक कोई अन्तर नहीं आया है। ब्राह्मणवर्ग का जो सम्मान नैपाल में है उनका वैसा सम्मान भारतवर्ष के किसी भी प्रांत में नहीं है। नैपाल में हिंदू और बौद्ध मन्दिरों की संख्या २७३३ बतलाई जाती है। इन मन्दिरो के साथ लगी हुई बड़ी-बड़ी जागीरें हैं जिनका उपयोग पुजारी लोग करते हैं। नैपाल के लोग ज्योतिष के बड़े कायल हैं। ज्योतिषियों की माँग हर जगह है। अतएव ज्योतिषी का पेशा नैपाल में एक चलता हुआ पेशा है। प्रायः हर पढ़ा लिखा ब्राह्मण ज्योतिष जानता है। नैपाल

में शिक्षा का अभाव है। सामन्तों के लड़के अपने घरों में शिक्षा पाते रहते हैं। इधर कुछ वर्ष हुए सरकार की ओर से कुछ प्रारंभिक स्कूल खोले गए हैं, जहाँ निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। हाई स्कूल कुल चार हैं। काठमांडू में एक कालेज भी है जो पटना विश्व-विद्यालय से सम्बन्धित है। उच्च शिक्षा के लिए सामन्तों के लड़के बनारस, पटना और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में पढ़ने जाते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है नैपाल सरकार काठमांडू में विश्वविद्यालय खोलने की योजना बना रही है। इधर कुछ वर्षों से नैपाली भाषा में कुछ समाचार पत्र भी निकलने लगे हैं। नैपाल में उदररोग, चर्मरोग, कोढ़, आतशक आदि बीमारियों का विशेष प्रकोप रहता है। चेचक और मलेरिया तो प्रायः वर्ष भर बने रहते हैं। इन प्रकोपों से बचने के लिए सरकार की ओर से चिकित्सा का कोई प्रबन्ध अब तक नहीं है। काठमांडू में अंगरेज मिशनरियों का एकमात्र अस्पताल है जहाँ प्रायः भीड़ लगी रहती है। उच्च वर्ग के लोग अपने निजी वैद्य रखते हैं।

नैपाल के नारी-समाज की स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। सामन्तों में बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित है। नैपाल में लड़कों और लड़कियों के मिलने और साथ रहने पर कोई रोक नहीं है। वे अपना जीवन-साथी स्वयं चुनते हैं। तलाक की प्रथा भी प्रचलित है। स्त्री और पुरुष में से कोई भी तलाक दे सकता है। सम्बन्ध-विच्छेद के लिए कहीं अदालत में जाने की आवश्यकता नहीं होती। केवल एक दूसरे का साथ छोड़ देना ही पर्याप्त है। हमारे देश की तरह नैपाल की पिछड़ी जातियों में बाल-विवाह की चलन है। तीन और चार वर्ष की अवस्था में माता-पिता लड़के-लड़कियों का विवाह कर देते हैं।

विवाह-संबंधी कुरीतियों के अतिरिक्त नैपाली समाज में कई

और भी बुराइयाँ हैं जिनमें मद्यपान और धूम्रपान विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। नैपाली मां-बाप अपने छोटे-छोटे बच्चों को भी धूम्रपान के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इसका फल यह है कि नैपाल में चार और पॉच वर्ष के बच्चे भी तम्बाकू पीते देखे जाते हैं। परंतु इन त्रुटियों के साथ-साथ नैपाली समाज में कुछ अच्छाइयाँ भी हैं जिनपर किसी भी सभ्य समाज को गर्व हो सकता है। नैपाल के अधिकांश लोग गरीब हैं, परंतु उनमें सचाई, ईमानदारी और सरलता कूट-कूट कर भरी हुई है। प्रायः यह सुना जाता है कि नैपाल में चोरी नहीं होती। आधुनिक सभ्यता के साथ लिपटे हुए चालाकी, धूर्तता, अभिव्यंजना आदि दुर्गुणों से नैपाली समाज अभी तक मुक्त रहा है। गरीबी और भुखमरी बीच नैपाल-निवासी आज भी सरलता, कर्तव्यपरायणता आदि प्राचीन गुणों का अलख जगा रहा है।

नैपाल और भारतवर्ष

भौगोलिक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से नैपाल भारतवर्ष का एक अंग है। नैपाल के शासक प्रायः सदैव भारतीय रहे हैं। वर्तमान राजवंश भी चित्तौड़ से संबंधित है। हमारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी अविच्छिन्न रूप से चलता आया है। नैपाल के लोग स्वयं अपने को भारतीय समझते हैं और भारतवर्ष के अतिरिक्त उनका सांस्कृतिक संबंध किसी दूसरे देश से नहीं है। नैपाल की भौगोलिक स्थिति कुछ ऐसी है कि उसे अनिवार्यतः भारतवर्ष के साथ रहना है। हमारा एक दूसरे के साथ चोली-दामन का संबंध है। नैपाल का निकास, उसका व्यापार और आना-जाना सब कुछ भारतवर्ष से होकर है। इतना ही नहीं उसका ८० प्रतिशत व्यापार भी भारतवर्ष के साथ होता है। ऐसी थिति में नैपाल भारतवर्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता।

परन्तु साथ ही हम भी नैपाल की अपेक्षा नहीं कर सकते। उत्तरी सीमा पर नैपाल हमारा प्रहरी है। गोरखे सैनिक जो अगस्त सन् १९४७ से पहले ब्रिटिश सेना के अंग थे, आज भारतीय सेना को सुशोभित कर रहे हैं। अपनी गोरखा टुकड़ियों पर हमें गर्व है। साम्राज्यवादियों के इच्छा के विरुद्ध भी स्वतंत्र भारत और नैपाल के बीच सौहार्द्र बढ़ता ही गया। एक दूसरे के प्रति हमारी सहानुभूति केवल प्राकृतिक है। यह सौहार्द्र बढ़कर स्थायी और घनिष्ठ मैत्री में परिणत होगा, इसमें संदेह ही क्या ?

अफ़गानिस्तान

भौगोलिक स्थिति

भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम में स्थिति, अफगानिस्तान एशिया के तीन बड़े देश—एशियाई रूस, भारतवर्ष और ईरान का सरहदी देश है। उत्तर में एशियाई रूस के तुर्कमान, उज़बेकिस्तान और ताजिकिस्तान के जनतंत्र, पश्चिम में ईरान और दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में पाकिस्तान और भारतवर्ष अफ़गानिस्तान की सीमाएँ निर्धारित करते हैं। अफगानिस्तान एक पहाड़ी और कंकरीला देश है। अतः इसका क्षेत्रफल ढाई लाख वर्गमील होते हुए भी जन-संख्या १ करोड़ से कुछ ही अधिक है। अधिकांश अफ़गान जनता पहाड़ की घाटियों, नदियों के किनारे तथा उत्तर और दक्षिण-पश्चिम के मैदानों में रहती है। हिन्दूकुश पहाड़ अफगानिस्तान के बीचोबीच पूर्व से पश्चिम फैला हुआ है। यह देश को दो भागों में बाँट देता है। हिन्दूकुश के उत्तर का भाग भौगोलिक दृष्टि से उसके दक्षिणी भाग से भिन्न है। उत्तर का भाग उपजाऊ और दक्षिण का भाग ऊसर तथा कँकरीला है। अफगानिस्तान के हरे-भरे खेत और बाग इसके उत्तरी ही भाग में पाये जाते हैं। दक्षिणी भाग उपज की दृष्टि से गरीब और मुहताज है। इसकी अन्न सम्बन्धी आवश्यकताएँ उत्तर से पूरी होती हैं। उत्तरी और दक्षिणी भागों के जलवायु में भी अन्तर है। उत्तर का जलवायु ठंडा और शुष्क तथा दक्षिण का गर्म है। भौगोलिक स्थिति का प्रभाव देश की भाषा पर भी है। अफ़गानिस्तान की
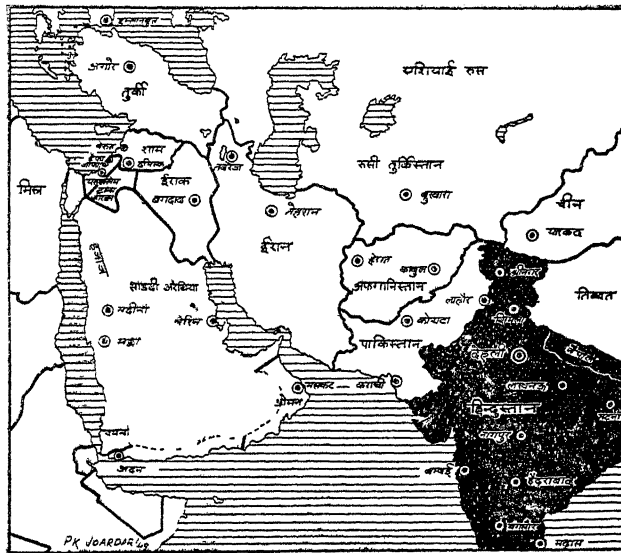
मध्य-पूर्व के इस्लामी राष्ट्र

राजभाषा फारसी है। हेलमन्द से पश्चिम के लोगों की भाषा फारसी है। पूर्वी अफ़ग़ानिस्तान की बोली पश्तो है। पश्तो अफगानों की राष्ट्रीय भाषा है। पश्तो बोलने वालों की संख्या अफगानिस्तान और उसके बाहर ३५ लाख से अधिक है। पश्चिमी भाग के लोग पश्तो नहीं समझते। उत्तरी अफ़ग़ानिस्तान की बोली तुर्की है। काफ़िरिस्तान की बोली इन सब से अलग है।

निवासी

अफ़गानिस्तान की वर्तमान भौगोलिक सीमा जातीय और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सम्बद्ध नहीं कही जा सकती। उत्तर की ओर अफ़गानिस्तान की सीमा में कुछ ऐसे प्रदेश आ गये हैं जहाँ तुर्कमान, ताज़िक, और उजवेग जाति के लोग रहते है, जब कि दक्षिण की ओर ४० लाख से अधिक अफ़गान अपने देश से काट कर सीमाप्रान्त और बिलोचिस्तान में मिला दिये गये है। इस दक्षिण वाले भाग में स्वतंत्र कबीलों का प्रदेश बिलोचिस्तान और सीमप्रान्त के बन्नू, पेशावर, कोहाट, डेराइस्माइलखाँ और हज़ारा के ज़िले आते हैं। अफगानिस्तान की वतमान सीमा के अन्दर पूरी अफ़गान जाति नहीं आती। अफ़गानों को तितर-बितर करने का श्रेय ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति को है। अफ़गानों को शक्तिहीन बना कर अपने काबू में रखना और ब्रिटेन के पूर्वी साम्राज्य को रूसी प्रभाव से बचा रखना इस नीति के दो प्रधान अंग थे। भारतवर्ष को सुरक्षित रखने के लिए अंग्रेज़ों ने अफ़गानिस्तान को अपने प्रभावक्षेत्र में रखा और साथ ही अफ़गानों को शक्तिहीन बनाने के उद्देश्य से उन्हे छिन्न-भिन्न कर डाला।

विदेशों में प्रायः लोग समझते हैं कि अफ़ग़ानिस्तान में केवल अफ़गान ही लोग रहते हैं। किन्तु यथार्थ कुछ और ही है। अफ़ग़ानिस्तान जातीय दृष्टि से एक अजायब घर है, जहाँ मध्य एशिया, अरब और टर्की की प्रायः सभी इतिहास-प्रसिद्ध

जातियाँ आकर बसी हैं और देश पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ गयी है। आज दिन भी इन विभिन्न जातियों के जत्थे न्यूनाधिक संख्या में देश के विभिन्न भागों में पाये जाते है। संख्या के विचार से अफगानिस्तान में रहनेवाली प्रमुख जातियाँ चार है :—

जाति का नाम		संख्या
१—अफगान	... ...	४४, ८४, ४६२
२—ताजिक	... ...	२१, ०६, ०००
३—उज़बेग	... ...	८, ०२, ०००
४—हज़ारा	... ...	८, ६७, ०००

इन चार प्रमुख जातियों के अतिरिक्त अफगानिस्तान में तुर्कमान, नूरिस्तान (लाल काफिर) तैमिनी, फिरज़कुह, जमशीदी, तैमूरी, बलूची, तुर्की, यहूदी, किश्रानी, कुर्द, किपचास और हिन्दुस्तानी लोग भी रहते हैं। विदेशियों के लिए इन जत्थों के बीच स्थित भेदभाव को समझना प्राय: कठिन है, क्योंकि इनकी रहन-सहन और संस्कृति में बहुत कुछ एकता आ गई है।

अफ़गान इस देश की प्रधान जाति है और इसी जाति के नाम पर इस देश का नाम अफगानिस्तान पड़ा है। परन्तु १८ वीं सदी से पहले 'अफगानिस्तान' नाम सार्थक नहीं होता, क्योंकि सबसे पहले इसी सदी के मध्य में (१७४७ ई०) अफगानों का शासन देश में स्थापित हुआ। अफ़गानों की उत्पत्ति के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। देश में प्राचीन काल से प्रचलित लोक-कथाओं के आधार पर अफगान अपने को 'बेनी इसराइल' अथवा यहूदियो की सन्तान कहते हैं। अधिकांश योरोपीय इतिहासकारो ने भी अफ़गानों की यहूदी उत्पत्ति की बात को स्वीकार किया है । 'कैस' अथवा 'किस' पहला अफ़गान था जिसने मक्का जाकर इस्लाम धर्म स्वीकार किया। यही 'कैस'

अफ़गानों का पूर्वज समझा जाता है। कुछ देशी और विदेशी इतिहासकार अफ़गानों की उत्पत्ति का सम्बन्ध भारतवर्ष के हिन्दुओं से जोड़ते है। कबायली क्षेत्र के प्रायः सभी पठान जत्थे स्वयं इस बात को मानते है कि उनके पूर्वज हिन्दू थे। प्रायः सभी आधुनिक इतिहासकार सहमत है कि गजनी के आधिपत्य से पहले अफगानिस्तान में हिन्दू बौद्ध और पारसी लोग रहते थे। भारतवर्ष और अफगानिस्तान का सांस्कृतिक संबंध वैदिक काल अथवा उससे भी पहले का है। सम्भव है कि वेद की ऋचाएँ पहले पहल इसी अफ़गान देश में लिखी गयी हों। जो कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि अफगानिस्तान में सदियो तक भारतीय संस्कृति का जोर रहा और उसके अवशेप आज भी अफगानिस्तान में देखे जा सकते है। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या यदि अफगानों के पूर्वज भी भारतीय रहे हो? परन्तु इस ऐतिहासिक तर्क-वितर्क में न पड़ कर हमें यहाँ केवल इतना कहना है कि आधुनिक अफ़गान कौम अनेक जातियों का मिश्रण है उस पर समय-समय पर विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा है। अफगानिस्तान का इतिहास इसका प्रमाण है।

इतिहास

ईसा के ५०० वर्ष पहले तक अफगानिस्तान यूनानी साम्राज्य का एक अंग था। सिकन्दर के मर जाने के बाद यूनानी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और उसके पूर्वीय प्रदेशों पर सल्यूकस का आधिपत्य हो गया। परन्तु यूनानी साम्राज्य के भारतीय प्रदेश तथा काबुल सिकन्दर के मरने के कुछ ही दिन बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के अधिकार में आ गये। ईसा से पूर्व तीसरी सदी में सेल्यूकस के वंशजों की शक्ति क्षीण होने लगी और ईसा से पूर्व २४६ के निकट बैक्ट्रिया में एक स्वतंत्र यूनानी राज्य की स्थापना हुई और भारतवर्ष के दूसरे पश्चिमोत्तर

प्रदेशों के साथ काबुल भी बैक्ट्रिया के अधीन हो गया। काबुल बैक्ट्रिया के आधिपत्य में भी अधिक दिन तक न रह सका। इसके पश्चिमी भाग पर पार्थियन और पूर्वी भाग पर शक सरदारों ने अधिकार कर लिया। शक लोग मध्य एशिया के निवासी थे। इन्होंने अपनी जाति के नाम पर देश का नाम 'शकस्तान' रखा जिसे आज 'सीस्तान' कहा जाता है। ईसा से पूर्व पहली सदी में यूची जाति के लोगों की शक्ति बढ़ी उन्होंने पार्थियन और शक सरदारों को पराजित कर कुशन साम्राज्य की नींव डाली। यूची जाति के लोग भी मध्य एशिया के रहने वाले थे। कुशन साम्राज्य उत्तर-पश्चिम में अफ़गानिस्तान से लेकर पूर्व में काशी तक फैला हुआ था। कनिष्क इस वंश का सब से बड़ा सम्राट हुआ। कुशन शासक बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, अतएव उनके शासन काल में अफ़गानिस्तान में बौद्ध-धर्म और संस्कृति का प्रसार हुआ जिसके अवशेष आज भी अफ़गानिस्तान में वर्तमान हैं। कनिष्क की मृत्यु के बाद कुशन साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया। परन्तु कनिष्क के उत्तराधिकारी आठवीं सदी तक अफ़गानिस्तान में 'तुर्कीशाही' नाम से राज्य करते रहे। नवीं सदी में अफ़गानिस्तान में एक दूसरे शासन की स्थापना हुई जो 'हिंदूशाही' नाम से अफ़गानिस्तान के इतिहास में प्रसिद्ध है।

सातवीं सदी में इस्लाम की लहर अफ़गानिस्तान में भी पहुँची और इसका पश्चिमी भाग, कन्धार के ख़लीफा के आधिपत्य में चला गया। परन्तु इसका पूर्वी भाग उस लहर से लगभग दो सदियों तक अछूता रहा और उस पर तुर्कीशाही और हिन्दूशाही राजाओं ने राज्य किया। दसवीं सदी के आरम्भ में गज़नी में तुर्की सरदारों का जोर बढ़ा। गज़नी के शासक सुबुक्तगीन ने बग़दाद से अलग होकर अपने को स्वतंत्र घोषित किया और उसने काबुल के हिन्दू राज्य को अपने राज्य में मिला

लिया। महमूद गजनवी इस वंश का सबसे शक्तिशाली शासक था। उसने भारतवर्ष पर १७ हमले किए। महमूद के वंशजों ने काबुल पर सन् ११५३ तक राज्य किया। सल्जक तुर्कों से लड़ते-लड़ते उनकी शक्ति क्षीण हो गयी। अन्त में गजनी साम्राज्य गोर सरदारों के आधिपत्य में आ गया। भारतवर्ष का विजेता मुहम्मद गोरी इसी वंश का था। मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद इसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और काबुल का राज्य उसके वंशजों में बँट गया। तेरहवीं सदी में मंगोलों ने काबुल को तहस-नहस कर डाला। उसके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक अफ़गानिस्तान पर मंगोलों ने राज्य किया। सन् १५०४ मे तैमूर के वंशज बाबर ने काबुल को जीत लिया। भारत में मुग़ल शासन की स्थापना के समय काबुल मुग़ल साम्राज्य का एक सूबा था। हुमायूँ के समय में अफ़गानिस्तान के पश्चिमी भाग पर ईरान का अधिकार हो गया। अकबर के समय में काबुल फिर मुग़लो के हाथ में आ गया। परन्तु हेरात कन्धार और बल्ख पर उनका अधिकार न हो सका। बल्ख और कन्धार जीतने के लिए शाहजहाँ ने दो बार प्रयत्न किया, पर उसे सफलता न मिली। मुग़ल शासन के क्षीण हो जाने पर सन् १७३७-३८ में नादिरशाह ने कन्धार और काबुल को जीत कर अपने ईरानी साम्राज्य मे मिला लिया। नादिरशाह की मृत्यु के बाद अफगानिस्तान ईरान से स्वतंत्र हो गया। सन् १७४७ में अहमदशाह अब्दाली अफ़गानिस्तान की गद्दी पर बैठा। अहमदशाह अब्दाली अफ़गानिस्तान का पहला अफगान शासक था। इसी समय से देश मे अफ़गानों का उत्कर्ष हुआ। अहमदशाह अब्दाली के समय में अफ़गानिस्तान की शक्ति बढ़ी और उसका आधिपत्य पूर्व में पंजाब से लेकर पश्चिम में कैस्पियन सागर के किनारे तक फैल गया। अहमदशाह ने दिल्ली पर भी चढ़ाई की और पानीपत की तीसरी लड़ाई में (सन् १७६१

ई०) उसने मराठा सरदारों के स्वप्न पर पानी फेर दिया। सन् १७७३ में उसके मरने के बाद उसका लड़का तैमूर अफ़गानिस्तान की गद्दी पर बैठा। तैमूर ने कंधार से हटकर काबुल को अपनी राजधानी बनाया। तभी से काबुल अफ़गानिस्तान की राजधानी रहा है।

पाश्चात्य प्रभाव

१६वीं सदी से पहले अफ़गानिस्तान का सम्पर्क केवल आस-पास के देशों से था, परंतु १६वी सदी में अफगानिस्तान पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में भी आया। एशिया के दूसरे देशों की तरह अफ़गानिस्तान में भी पाश्चात्य प्रभाव की वृद्धि उसके लिए हितकर न हुई। सन् १७७३ के बाद अफगानिस्तान की स्थिति बिगड़ी और १८वीं सदी के अन्त तक सिन्ध, कश्मीर, लाहौर और बलख़ उससे अलग हो गये। एक ओर देश की आंतरिक स्थिति बिगड़ रही थी, दूसरी ओर बाहरी संकट भी उपस्थित हो गये। भारतवर्ष को अपने आधिपत्य में कर लेने के बाद अंगरेजों की दृष्टि अफ़गानिस्तान पर पड़ी और उसकी बिगड़ती हुई स्थिति से उन्होंने लाभ उठाना चाहा। इसी समय रूस भी अफ़गानिस्तान की ओर आकृष्ट हुआ। दोनों ने अफगानिस्तान को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आना चाहा। अफगानिस्तान स्वतंत्र देश था, अतएव किसी भी देश से मैत्री कर सकता था, परंतु साम्राज्यवादियों को यह बात अच्छी न लगी। अंग्रेज़ों को यह डर था कि यदि अफ़गानिस्तान में रूस का प्रभाव बढ़ा तो उसके पूर्वीय साम्राज्य के लिए ख़तरा उत्पन्न हो जायगा। रूस को यह भय था कि कहीं अनुचित हस्तक्षेप करके अंग्रेज़ों ने अफ़गानिस्तान को अपने पूर्वीय साम्राज्य में मिला लिया तो रूस भी ख़तरे से खाली न रहेगा। इस प्रकार अफ़गानिस्तान के प्रश्न को लेकर रूस और ब्रिटेन में जो प्रतिस्पर्धा आरंभ हुई वह बीसवीं सदी के

प्रारंभ तक चलती रही। इन दो साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच अफगानिस्तान बेबसी की हालत में पड़ा रहा। सन् १८३८ और १८८० के बीच में अफगानिस्तान और अंगरेजों के बीच तीन युद्ध हुए और इनमें से प्रत्येक का कारण अफ़गानिस्तान में रूसी प्रभाव की वृद्धि थी, जिसे अंगरेज अपने लिए अहितकर समझते थे। सन् १८३८ में अफगानिस्तान का अमीर दोस्तमुहम्मद रूसी प्रभाव में आ गया। अंगरेज़ों को भय हुआ कि कहीं रूस वहाँ अपना पैर न जमा ले। उन्होंने दोस्त मुहम्मद को गद्दी से उतारकर शाहशुजा को अमीर बनाया। अफगान अंग्रेज़ों के इस हस्तक्षेप पर बिगड़ गये और उन्होंने अंग्रेज एजेन्ट को मार डाला। युद्ध आरम्भ हुआ, पर बाद में दोस्त मुहम्मद से संधि हो जाने पर गद्दी उसे वापस लौटा दी गयी। सन् १८०८ में अमीर शेरअली के समय में फिर रूसी प्रभाव काबुल में बढ़ा। रूस-अफ़गानिस्तान संधि की अफवाह उड़ी। अंग्रेज़ों ने काबुल पर चढ़ाई कर दी। शेरअली गद्दी से उतारा गया और अंग्रेज़ों ने उसके लड़के याकूबख़ाँ को गद्दी पर बिठाया। अंग्रेज़ों के साथ जो संधि हुई उसमें अमीर नें अपने देश के वैदेशिक मामलों में ब्रिटेन की अधीनता स्वीकार किया। पर स्वाभिमानी अफ़गानों को अमीर की नीति पसन्द न आई। उन्होंने विद्रोह कर दिया और काबुल में अंग्रेज एजेन्ट मारा गया। इस प्रकार तीसरा युद्ध आरम्भ हुआ। इस बार अफ़गानिस्तान पूर्णतया अंग्रेज़ों के अधीन हो गया। संधि में अमीर ने अंग्रेज़ों को लड़ाई का हरजाना देना, काबुल में अंग्रेज एजेन्ट और अंग्रेज़ी सेना रखना स्वीकार किया। सन् १६०७ में रूस और ब्रिटेन के बीच मध्यपूर्व के सम्बन्ध में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार रूस ने अफ़गानिस्तान से अपना हाथ खींच लेने की घोषणा की और अंग्रेज़ों ने उसकी स्वतंत्रता की रक्षा का वचन दिया। इस समझौते के बाद ब्रिटेन और अफ़गा-

निस्तान के पारस्परिक सम्बन्ध प्रथम योरोपीय युद्ध के अन्त तक अच्छे रहे। सन् १६१६ में टर्की के प्रश्न को लेकर अफ़गानिस्तान में ब्रिटेन-विरोधी आन्दोलन छिड़ा। अफ़गानों ने काबुल से अंग्रेजी सेना हटा लेने की माँग की। युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। रूसी सेनाएँ भी अफगानों की मदद के लिए सरहद पर उतर आयीं। स्थिति को बिगड़ती देख अंग्रेजों ने अफ़गानिस्तान स्थित अपनी फौजी टुकड़ियों को हटा लिया। सन् १६१६ के बाद अफगानिस्तान के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ, परन्तु इसके बाद भी अफगानिस्तान ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र में ही रहा। अमानुल्ला ने अपने शासन काल में ब्रिटेन की उपेक्षा की और उसे गद्दी से हाथ धोना पड़ा। जब तक ब्रिटिश सत्ता भारतवर्ष में बनी रही तब तक अंग्रेजों ने अफ़गानिस्तान में किसी दूसरी शक्ति का प्रभाव बढ़ने न दिया।

वर्तमान राजनैतिक स्थिति

१५ अगस्त सन् १६४७ में भारतवर्ष से ब्रिटिश सत्ता हट जाने के समय से अफगानिस्तान के राष्ट्रीय जीवन में एक स्फूर्ति-सी आ गयी है। अफ़गानों में राष्ट्रीय एकता का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। १६वीं सदी में अंग्रेजों ने देश की जो कृत्रिम सीमाएँ निर्धारित की थीं उन्हें तोड़ने के लिए अफ़गान उत्सुक हैं। सीमान्त प्रदेश के आजाद पठानिस्तान आन्दोलन से अफगानों को सहानुभूति है। भारतवर्ष के बँटवारे के समय अफ़गान सरकार ने ब्रिटेन पर जोर दिया कि अफगानिस्तान के साथ पुराना सरहदी सुलहनामा भी रद्द किया जाय और डूरन्द लाइन अफगानिस्तान की पूर्वी सीमा मान ली जाय जैसा १६वीं सदी से पहले था। सीमा और आजाद पठानिस्तान के प्रश्नों को लेकर देश में बड़ी सरगर्मी है। पाकिस्तान भी इस संघर्ष से बचना चाहता है। पश्चिमी कबायली हलकों से अपनी सेनायें हटा कर पाकिस्तान ने यह सिखलाने का प्रयत्न किया

कि वह कबीलों की स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहता है। परन्तु सीमान्त के पठानिस्तान आन्दोलन में किसी तरह की ढील नहीं दिखलाई पड़ती। मध्य पूर्व के दूसरे देशों की तरह अफगानिस्तान में भी रूसी और ऐंग्लों—अमेरिकन प्रतिस्पर्द्धा की पृष्ठ-भूमि तैयार हो रही है। लंदन और वाशिंगटन दोनों काबुल की ओर से सचेत हैं और अफगानिस्तान को रूसी प्रभाव में जाने से बचाना चाहते हैं।

शासन-व्यवस्था

अफ़गानिस्तान वैधानिक राजतंत्र है, परंतु अफगानिस्तान के शाह के अधिकार वैधानिक शासक के अधिकारों से कहीं अधिक है। शासन और व्यवस्थापिका की प्रधान सत्ता उसी के हाथ में है। इतना ही नहीं, शाह राष्ट्रीय सेना का प्रधान सेनापति भी है। युद्ध की घोषणा और संधियो पर उसी की स्वीकृति होती है। अपने उत्तराधिकारी का निर्णय और प्रधान मंत्री का चुनाव वह स्वयं करता है। व्यवस्थापिका द्वारा भेजे गये बिलों पर अंतिम स्वीकृति उसी की होती है।

अफ़गानिस्तान की व्यवस्थापिका के दो चैम्बर हैं। एक का नाम सिनेट (मजलिसये आलिये आयान) और दूसरे का राष्ट्रीय एसेम्बली है। सेनेट के सदस्यों की संख्या ४५ है। इसके सदस्य अमीरों और सरदारों में से जीवन भर के लिए शाह द्वारा मनोनीत किये जाते है। सिनेट की बैठक वर्ष भर हुआ करती है। राष्ट्रीय एसेम्वली के सदस्यों की संख्या १०६ है। ये सदस्य जनता द्वारा चुने जाते है। इनका चुनाव ३ वर्ष के लिए होता है। २० वर्ष से ऊपर वाली आयु का हरएक नागरिक एसेम्वली के चुनाव में भाग ले सकता है। दिवालिये और दंड-प्राप्त व्यक्तियों को मतदान का अधिकार नहीं है। सिनेट और एसेम्बली के अतिरिक्त एक वृहद् एसेम्बली भी होती है, जिसे अफ़गानिस्तान

की भाषा में "लो जिरगा" कहते है। यह "जिरगा" लगभग हर चौथे साल बुलाया जाता है और नीति-संबंधी प्रमुख प्रश्न इसके सामने रखे जाते हैं। इसके निर्णय सर्वमान्य होते है। कानून व्यवस्थापिका सभा में मंत्रियों द्वारा प्रस्तावित होते है। पार्लियामेंट में मंत्री अपने विभागों के लिए उत्तरदायी होते है, परन्तु अफगानी पार्लियामेंट मंत्रियों पर न तो अविश्वास का प्रस्ताव ले आ सकती है और न उन्हे पदच्युत ही कर सकती है। ये अधिकार केवल शाह को है। अफ़गानी मंत्रिमंडल में प्रधान मंत्री को छोड़कर १० या ११ मंत्री हुआ करते है।

प्रान्तीय शासन

अफगानिस्तान ७ बड़े और २ छोटे प्रांतों में विभाजित है। बड़े प्रान्तों को "विलायत" और छोटे प्रांतों को "हुकूमतय आला" कहते हैं। बड़े प्रान्तों के प्रधान शासक को "नायबुल हुकूमत" और छोटे प्रान्तों के प्रधान शासक को "हाकिमे आला" कहा जाता है। प्रान्त कई 'हुकूमतों' में बंटे हैं जो हमारे देश के जिलों की तरह है। 'हुकूमत' के अन्दर 'इलाकादारियाँ' हैं जो हमारे यहाँ की तहसीलों की तरह है। देश के प्रमुख नगरों में म्युनिसिपल बोर्ड हैं,जिनके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते है। न्याय के लिये देश में कई तरह की अदालतें हैं जो शरैयत के अनुसार निर्णय करती है। सबसे छोटी अदालत को 'महकमा इब्तदाइया' कहते हैं। यहाँ से अपील जिस अदालत में होती है उसे "महकमा मुराफिया" कहते हैं। सबसे ऊँची अदालत काबुल में है।

आर्थिक स्थिति

देश के आर्थिक उत्कर्ष के लिए जिन-जिन साधनों की आवश्यकता हुआ करती है उनमें से अधिकांश अफ़गानिस्तान में नहीं हैं। अफ़गानिस्तान समुद्र से दूर है, अतएव इसके

पास कोई बन्दरगाह नहीं है। इसका अधिकांश समुद्री व्यापार करांची से होता है। देश में नदियाँ भी बहुत कम हैं और जो है भी उनमें जहाज या स्टीमर नहीं चलाये जा सकते। अफगानिस्तान में कोई रेलवे लाइन भी नहीं है। इस प्रकार यातायात की दृष्टि से अफगानिस्तान अकिंचन है। देश में प्रमुख नगरों को मिलानेवाली कुछ मोटर की सड़कें हैं, पर हर मौसम में उन पर भी चलना आसान नहीं है। व्यापारी लोग अधिकतर टट्टू और ऊँटों पर एक स्थान से दूसरे स्थान को माल ले जाते हैं।

अफगानिस्तान में प्राकृतिक साधनों की कमी नहीं है। तरह-तरह के खनिज पदार्थ देश के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। उत्तरी अफगानिस्तान में ताँबा प्रचुरता से पाया जाता है। कोयले की खानें हिन्दूकुश के उत्तरी ढलाव पर पाई गई है। सोना कन्धार और उत्तर की नदियों में तथा चाँदी पंजशेर की घाटी में उपलब्ध है। हेरात के निकट पेट्रोल भी पाया गया है। इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर लोहे और सीसे की भी खदानें हैं, पर यातायात की कठिनाई और वैज्ञानिक विधि की अनुपस्थिति में इन साधनों का उचित उपभोग नहीं हो पाया है। यदि भूमि में दबे हुए इन द्रव्यों को निकालने का समुचित प्रबंध किया जाय तो अफगानिस्तान को आर्थिक लाभ के अतिरिक्त मशीन आदि के लिए उसे विदेशों पर निर्भर न रहना पड़े।

कृषि और व्यवसाय

अफगानिस्तान में जीविका का मुख्य साधन कृषि है। लगभग ८० प्रतिशत अफगानी जनता खेती से जीविका उपार्जन करती है। परन्तु खेती के लिए भी देश में उपयुक्त साधनों का अभाव है। अफगानिस्तान का अधिकांश भाग पहाड़ी और कंकरीला होने के कारण खेती के लिए उपलब्ध भूमि बहुत कम है। केवल १५ लाख किलोमीटर भूमि

पर खेती होती है। इस भूमि का लगभग तीन-चौथाई भाग बड़े-बड़े जमींदारों और मुल्लाओं के हाथ में है। अफगानिस्तान के अधिकांश किसानों के पास या तो भूमि ही नहीं है और यदि है भी तो बहुत थोड़ी। यही कारण है कि अफ़गानिस्तान के किसान ग़रीब हैं और मज़दूरी से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। कृषि के विकास में दूसरी बाधा पानी की कमी है। पिछले दस वर्षों में कुछ नहरें निकाली गयी हैं, किन्तु वे पर्याप्त नहीं हैं। अनाजों में ज्वार, बाजरा, दाले और गेहूँ अफ़गानिस्तान की मुख्य उपज हैं। अफ़गानिस्तान अपने उत्तम और स्वादिष्ट फलों के लिए प्रसिद्ध है। फलों में अनार, बादाम अंगूर, किशमिश, अखरोट आदि प्रमुख हैं। भेड़, बकरियां, गाय और बैल ग़रीब अफ़गान जनता की स्थायी सम्पति हैं। इन जानवरों से ऊन, चमड़े और 'काराकुल' मिलते है जिनका निर्यात विदेशों में होता है।

अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अफ़गानिस्तान औद्योगीकरण के मार्ग में बहुत पीछे है। देश में बड़े-बड़े उद्योग तो नही के बराबर हैं। काबुल में दियासलाई, बटन, चमड़े और लकड़ी के छोटे-छोटे कारखाने हैं। पूरे देश में ऊनी कपड़े की मिलें केवल दो हैं, एक काबुल और दूसरी कन्धार में। सूती कपड़े की स्थिति और भी बुरी है। सूती मिल केवल एक है जो जेबालउस सिराज में है। भारतवर्ष के बटवारे से पहले अफगानिस्तान का अधिकॉश व्यापार भारतवर्ष के साथ होता था। हमारे देश से अफग़ानिस्तान को सूती कपड़े, चीनी, चाय, कागज, सीमेन्ट और लोहे तथा चमड़े की वस्तुएँ भेजी जाती थीं। अफग़ानिस्तान से हम मसाले, फल, चमड़े, रुई और कच्चा ऊन मँगाते थे। लगभग दो वर्ष तक एक दूसरे से कटे रहने के बाद भारतवर्ष और अफ़ग़ा-निस्तान के बीच फिर व्यवसायिक सम्बन्ध हुआ है। अफ़गान

सरकार देश की व्यवसायिक प्रगति की ओर विशेष रूप से सक्रिय है। इधर देश में जितने व्यवसाय खुल रहे हैं वे सब राष्ट्र के नियंत्रण में है। देश का अधिकॉश व्यवसाय राष्ट्रीय बैंक (बैंक मिल्ली) के द्वारा होता है।

शिक्षा धर्म और सामाजिक स्थिति

अफगानिस्तान में प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा निःशुल्क है। प्रारंभिक स्कूल तो प्रायः हर गांव में खोल दिये गये है। माध्यमिक स्कूल केवल काबुल और प्रान्तीय राजधानियों में है। टेकनिकल और व्यवसायिक शिक्षा के लिए भी स्कूल हैं। उच्च शिक्षा के लिए काबुल में विश्वविद्यालय है जिसकी नींव सन् १९२२ में पड़ी। काबुल विश्वविद्यालय में कला, साहित्य, विज्ञान, और चिकित्सा के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है। परन्तु यह सब होते हुये भी अफगानिस्तान में उच्च शिक्षा की कमी है। निरक्षरों की संख्या भी अधिक है। स्त्री-शिक्षा का तो नितान्त अभाव है। अफगानिस्तान के लोग आज भी मध्य युग में रह रहे हैं। उनके जीवन पर मौलवी और मुल्लाओं का गहरा प्रभाव है। उनकी रहन-सहन और विचार-धारा में आधुनिकता का प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर है। काबुल और दो एक दूसरे नगरों में तो पाश्चात्य रहन-सहन का थोड़ा-बहुत प्रभाव है, परन्तु गाँवों की रहन-सहन अभी भी पुरानी है। टर्की की देखादेखी शाह अमानुल्ला ने देश के सामाजिक जीवन में कुछ सुधार करना चाहा, पर अफ़गानों को वह पसन्द न आया। अमानुल्ला को इस्लाम का विरोधी कहकर उन्होंने गद्दी से अलग कर दिया। अफगानों के सामाजिक जीवन की एक त्रुटि यह भी है कि उनमें बेहद फिरकेबंदियाँ हैं। स्वतंत्र कबीलों के क्षेत्र में ये फिरकेबन्दियाँ और भी अधिक है। छोटी-छोटी बातों पर फिरकों के बीच लड़ाई-झगड़े हुआ करते है। लड़ाई

झगड़े उनके दैनिक जीवन की घटनायें हैं। छोटे-छोटे झगड़ों में भी बन्दूकें निकल आती है और दो एक प्राणियों का मर जाना कोई बड़ी दुर्घटना नहीं समझी जाती। अफगान हथियार बनाने और चलाने मे बड़े दक्ष होते है। उनकी स्त्रियॉ और बच्चे भी बन्दूक पर निशाना लगा लेते है। अफगानिस्तान की राष्ट्रीय शक्ति का एक बहुत बड़ा अंश इन फिरकेवार लड़ाई-झगड़ों में नष्ट हो जाता है। यह शक्ति जो आपस के लड़ाई झगड़ों में क्षीण होती है, यदि उसका प्रयोग शिक्षा, कृषि, वाणिज्य आदि में लगे तो देश की भी काया पलट जाय।

परन्तु इन त्रुटियों के होते हुए अफ़गानिस्तान के सामाजिक जीवन के कुछ अच्छे पहलू भी हैं। अफ़गान एक ईमानदार और सच्ची कौम है। अफगान धोखा और चालबाजी नहीं जानता। उसका मिजाज खरा होता है और वह सीधी बाते समझता है। अफगानिस्तान में व्यक्तिगत आचरण का बहुत बड़ा मूल्य है। आधुनिक सभ्यता के साथ लिपटा हुआ सामाजिक व्यभिचार अफ़गानिस्तान में देखने को नहीं मिलता। पराई बहू-बेटियो की ओर ऑख उठाना भी बुरा समझा जाता है और यदि किसी ने इस प्रकार का दुस्साहस किया तो उसे गोली का शिकार बना दिया जाता है यदि किसी तरह उसके प्राण बच गये तो उसका सामाजिक बहिष्कार तो अनिवार्य ही है।

अफगानों में स्वदेश-प्रेम और स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा है। अपने देश में विदेशी हस्तक्षेप वे पसन्द नहीं करते। यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि उनके शासक कोई ऐसा कार्य करने जा रहे है जिससे उनके राष्ट्रीय सम्मान को धक्का लगे तो वे विद्रोह कर बैठते हैं। अफ़गानों के सामाजिक जीवन का दूसरा अच्छा पहलू उनकी धार्मिक सहिष्णुता है। अपने जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में असहिष्णु होते हुये भी अफ़गान अपने देश में

रहने वाले ग़ैर मुसलमानों के साथ अच्छा बर्ताव करते आये हैं। अफ़ग़ानिस्तान एक मुसलमानी प्रदेश है, परन्तु वहां मुसलमानों के अतिरिक्त हिन्दू, सिख, यहूदी, ईसाई, और पारसी भी थोड़ी बहुत संख्या में रहते हैं। मुसलमानों की तुलना में इनकी संख्या नगण्य है, फिर भी इन अल्पसंख्यकों के धर्म में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है। सबको अपने विश्वास के अनुसार पूजा करने की स्वतंत्रता है। हाँ, इतना अवश्य है कि ग़ैर-मुसलमान अपने पूजाघर और मंदिर अपने घरों में ही बनाते हैं।

अफगानिस्तान के हिन्दू

अफगानिस्तान से हिन्दू धर्म का ह्रास हुए ९०० वर्ष से अधिक हो गये तथापि आज भी यहाँ हिन्दू-संस्कृति के अवशेष वर्तमान हैं। देश के दक्षिण-पूर्व भाग में ऐसे गाँव मिलते हैं जहाँ हिन्दुओं की आबादी है। शहरों में काबुल के अलावा हिन्दुओं की आबादी * कन्धार, गज़नी, जलालाबाद, चारिकार, बेग्रामबुलन्दशर और सराय खोजा में है। पूरे अफ़ग़ानिस्तान में हिन्दू और सिखों की संख्या लगभग चार हज़ार है। अधिकतर हिन्दू दूकानदार हैं, थोड़े से सरकारी नौकर भी हैं। अफगान सरकार हिन्दुओं के साथ कोई भेद-भाव का बर्ताव नहीं करती। लेन-देन के मामलों में हिन्दू साहूकार अफ़गानों के विश्वासपात्र हैं। अफ़ग़ानिस्तान के हिन्दू प्रायः सभी पञ्जाबी हैं। उनके घर की भाषा पञ्जाबी है। अफ़गानों के साथ वे पश्तो या फारसी में बात करते हैं। उनकी रहन-सहन या लिबास में अफ़गानों से कोई विशेष अन्तर नहीं है। पुरुष चौड़ी मोहड़ी के पैजामे और लम्बे कुर्ते और स्त्रियाँ सलवार पहनती हैं। लाल पगड़ी और पीले बुर्के की प्रथा, जो किसी समय हिन्दुओं के लिए

* सोवियट भूमि—श्री राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ७३५।

अनिवार्य थी, अब प्रायः उठ चली है। यद्यपि कहीं-कहीं आज भी लाल पगड़ी और पीला बुर्क़ा देखने में आते हैं, परन्तु वह नियम उठा लिया गया है।*

अफ़ग़ानिस्तान और भारतवर्ष

अफ़ग़ानिस्तान के साथ हमारा आदान-प्रदान बहुत पुराना है। प्राचीन समय से लेकर आजतक भारतवर्ष और अफ़गानिस्तान के बीच घनिष्ठ राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध के प्रमाण मिलते हैं। उत्तर-पश्चिम से भारतवर्ष में जितने लोग आये वे अफ़गानिस्तान होकर आये। युद्धों और आक्रमणों के कारण कई बार हमारे राजनीतिक सम्बन्ध में कटुता आ गई, किन्तु हमारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान अविछिन्न रूप से प्रवाहित होता रहा। आज भी अफ़ग़ानिस्तान के लोग भारतवर्ष के साथ सांस्कृतिक निकटता की बात को मानते हैं। काबुल विश्वविद्यालय ने संस्कृत को अपने पाठ्य-क्रम का एक विषय बनाकर इस सांस्कृतिक सम्बन्ध को जीवित प्रमाण दिया है। भारतवर्ष के बँटवारे के बाद अफ़गानिस्तान के साथ हमारा व्यवसायिक सम्बन्ध टूट गया और साम्प्रदायिक रक्तपात एक दूसरे के प्रति सन्देह और दुर्भावना का कारण बन गया। ऐसा होना केवल स्वाभाविक था। किन्तु वह समय दूर नहीं जब भारतवर्ष और अफ़ग़ानिस्तान फिर एक दूसरे के निकट आयेंगे। राजदूतों का आदान-प्रदान और व्यवसायिक सम्बन्ध का पुनः आरंभ उस सम्पर्क के प्रथम चरण हैं।

---

* सोवियट भूमि ...श्री राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ७४३।

ईरान

भौगोलिक स्थिति

उत्तर में कैस्पियन सागर और रूस, पश्चिम में ईराक और टर्की, दक्षिण में अरब सागर और पूरब में अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान ईरान की सीमाएं निर्धारित करते है। इसका क्षेत्रफल ६३०,००० वर्गमील है, जो भारतवर्ष के क्षेत्रफल के दो-पाँचवें भाग के बराबर है। बनावट और जलवायु में उत्तरी ईरान दक्षिणी ईरान से सर्वथा भिन्न है। उत्तर के पठार में कड़ा जाड़ा और दक्षिण के मैदान में कड़ी गर्मी पड़ती है। मध्य ईरान का जलवायु परिमित है। जाड़े के दिनों में देश के उत्तरी भाग का तापमान शून्य से नीचे रहता है। वर्ष के तीन या चार महीने यह भाग बर्फ से ढंका रहता है, जब कि फारस की खाड़ी मे स्थित शश्तर नगर संसार का सब से अधिक गर्म स्थान माना जाता है। गर्मियों में यहाँ का तापमान १३० डिग्री तक पहुँच जाता है। ईरान में बरसात जाड़े के दिनों में होती है। भारतवर्ष और दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की अपेक्षा ईरान में बहुत कम बरसात होती है। सीस्तान में औसतन २ इंच और कैस्पियन सागर के निकटवर्ती क्षेत्रो में ५० इंच तक बरसात हो जाती है।

उपज

रेगिस्तानी भाग को छोड़कर ईरान की भूमि उपजाऊ है। ईरान की घाटियों और दूसरे उपजाऊ स्थानों में गेहूँ, ज्वार,

बाजरा, तंबाकू, रुई और अफीम की उपज होती है। पठारी भाग में अखरोट, बादाम, पिस्ता, शफ़तालू, आलूचा, अंगूर आदि सूखे और हरे फल बहुतायत-से होते हैं। फलों का निर्यात ईरान का प्रधान व्यवसाय है। पहाड़ी और रेगिस्तानी भागों में लोग भेड़ और बकरियाँ पालते हैं। ऊनी कपड़े और कालीन ईरान के प्रायः सभी नगरों में बनाये जाते हैं। ईरान में यातायात की सुविधाएँ कम हैं। रेगिस्तानी भागों में ऊँट यातायात का मुख्य साधन है। ईरान में कोई बड़ी नदी नहीं है। समुद्र तक पहुँचने वाली एक नदी है, जिसका नाम करून है। इसमें १५० मील तक छोटे जहाज आ-जा सकते हैं।

जन-संख्या

ईरान की जनसंख्या एक करोड़ पचास लाख से कुछ अधिक है। पूरी जन-संख्या का लगभग एक-चौथाई भाग खानाबदोश है। इन चलते-फिरते जत्थों को ईरान में "इलिय़ात" कहा जाता है। ये जत्थे बड़े लड़ाकू और साहसी होते हैं। ईरान की सरकार को इनसे सदैव भय बना रहता है। किन्तु साथ ही ये खानाबदोश जत्थे अपने देश के लिए न्यामत भी हैं। सन् १९०६-७ के जन-आंदोलन की सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं साहसी और वीर खानाबदोशों को है। इतिहासकारों का अनुमान है कि प्राचीनकाल में ईरान की जन-संख्या उसकी वर्तमान जनसंख्या से कहीं अधिक थी। तेरहवीं सदी के मंगोल-हमलों ने देश को तहस-नहस कर डाला। उन भीषण हत्याओं की पूर्ति ईरान आज तक नहीं कर पाया है। सन् १९२५ ई० से पहले १५० वर्षों की अराजकता का भी देश की जनसंख्या पर बुरा प्रभाव पड़ा। इनके अतिरिक्त अकाल, महामारियाँ और उत्पादन की कमी भी जनसंख्या के विघटन के कारण हैं।

निवासी

ईरानियों की उत्पत्ति के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। स्वयं ईरान के इतिहासकार इस प्रश्न पर प्रायः मौन-से हैं। परंतु ईरानियों के विषय में इतना निश्चित है कि वे आर्य जाति के किसी जत्थे से संबंधित हैं। वे अपने को ईरानी और अपने देश को ईरान कहते हैं, जो प्राचीन काल के 'आर्याना' का अपभ्रंश है। 'आर्याना' का अर्थ है आर्यों का देश। भारतवर्ष के आर्यों और प्राचीनकाल के ईरानियों के बीच जो सांस्कृतिक एकता और समानताएँ मिलती हैं उनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। सातवीं, सदी में इस्लामी प्रचार के पहले ईरान की सभ्यता, लोगों की रहन-सहन, उनके धर्म और आदर्शों में हमारी वैदिक सभ्यता की झलक दिखलायी पड़ती है। जेंदा अवस्ता और ऋग्वेद की भाषाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं। ऋग्वेद में फारस और जेन्दा अवस्ता में भारतवर्ष का उल्लेख आया है। ऋगवेद के 'पार्श्व' पारसी लोग थे। आगे चलकर यही लोग 'पारसीक' कहलाये, जिससे आधुनिक 'फारसी' शब्द निकला। * ऋग्वेद और जेन्दा अवस्ता के वर्णन इस बात के प्रमाण हैं कि भारतवर्ष और ईरान में बँटने से पहले या तो भारतीय आर्य और ईरानी एक ही जत्थे के थे अथवा इन दोनों जत्थों में बहुत दिनों तक घनिष्ट संबंध रहा। ईरान का 'परशिया' नाम यूनानियों का दिया हुआ है। प्राचीन काल के 'परसा' अथवा आधुनिक 'फार्स' नाम पर यूनानियों ने पूरे देश का नाम 'परशिया' रखा। फार्स दक्षिण ईरान का एक प्रांत है।

---

* The Discovery of India by I. Nehru, Page .

अफ़गानिस्तान की तरह ईरान भी मध्य एशिया की विभिन्न जातियों का अड्डा रहा है। समय-समय पर ईरान में विभिन्न जाति के लोग आये और अपना आधिपत्य स्थापित किये। यूनानी, तुर्क, अरब, मंगोल, तारतार, अफग़ान आदि सभी इतिहास-प्रसिद्ध जातियों ने ईरान पर राज्य किया है। परंतु कुछ समय ईरान में रहने के बाद ये जातियाँ ईरानियों में इस तरह मिल-जुल गयीं कि उनका पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रहा। ईरान में आज भी ईरानियों के अतिरिक्त कुर्द, आरमिनियन और असोरियन जाति के लोग रहते हैं, पर इनकी रहन-सहन ईरानियों से भिन्न नहीं है। ईरानी संस्कृति का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ईरान के निवासी अधिकांश इस्लाम के अनुयायी हैं। मुसलमानों में भी अधिकांश शीया हैं। ईरान की १ करोड़ ४८ लाख मुसलिम जनसंख्या में शीया लोगों की संख्या १ करोड़ ४० लाख है। शेष मुसलमान सुन्नी हैं। मुसलमानों के अतिरिक्त ईरान में ८०,००० ईसाई ३६,००० यहूदी और ६,००० जोरेस्टर धर्म के मानने वाले (पारसी) रहते हैं।

ईरानी एक मिहनतकश और वीर क़ौम है। ईरानी लोग सौंदर्य और काव्य के उपासक और साथ ही हँसमुख और मिलनसार भी होते हैं। उनकी वाणी मधुर और रहन-सहन नफ़ासत से भरी होती है। वे नये विचारों के अपनाने में बड़े तेज़ होते हैं। ईरान खेतिहर देश है। अधिकांश ईरानी कृषि से ही अपनी जीविका चलाते हैं। व्यवसायों में काम करनेवाले दो प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। ईरान में जाति-पाँति का भेद-भाव नहीं है। रोटी-बेटी का सम्बन्ध एक जाति से दूसरी जाति में चलता है। हमारे देश की तरह वहाँ साम्प्रदायिकता भी नहीं

है। एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों के साथ अब तक अच्छा वर्ताव रखते आये हैं।

इतिहास

इतिहासकारों का अनुमान है कि ईरानियों के पूर्वज ईसा से ३ हज़ार वर्ष पूर्व मध्य एशिया के किसी भाग से ईरान में आये। ईरान में आने पर ये लोग मेडी और फारसी नाम के दो जत्थों में बँट गये। "मेडी" उत्तरी ईरान और फारसी "फार्स" अथवा दक्षिण ईरान में बस गये। इन दोनों जत्थों ने अलग-अलग राज्य स्थापित किया। मेडी सरदारों ने उत्तर ईरान में जो राज्य स्थापित किया वह इतिहास में "मीडिया' साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों राज्यों के बीच सदियों तक प्रतिस्पर्धा चलती रही और उनमें कई युद्ध भी हुए। पर ईसा से पूर्व ५५० में साइरस के शासन-काल में दोनों राज्य एक में मिल गये और इस प्रकार साइरस पूरे ईरान का पहला सम्राट् हुआ। साइरस एक महान् विजेता था। इसने एशिया माइनर, बेबीलोन और मिश्र को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। देरियस अथवा दारा प्रथम साइरस के वंश का सबसे बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इसके शासन-काल में ईरानी साम्राज्य का विस्तार और भी बढ़ा। इसके राज्य की सीमा पूरब में पंजाब और पश्चिम में डैन्यूब नदी तक फैल गयी। ईसा से पूर्व ५९० में ईरानी सेनाओं ने एथेस पर चढ़ाई किया। किंतु एथेस की सैनिक शक्ति के आगे ईरानी सेनाओं को हार माननी पड़ी। इसी पराजय के समय से ईरान का ह्रास आरंभ हुआ और अंत में ईसा से पूर्व २२० में सिकंदर महान् की सेनाओं ने ईरान पर अधिकार कर लिया। यूनानी आधिपत्य के साथ ईरान में यूनानी संस्कृति का प्रभाव बढ़ा। यूनानी आधिपत्य ईरान

पर अधिक समय तक न रह सका। सेल्यूकस की मृत्यु के बाद पर्थिया (आधुनिक खुरासान) की सेनाओं ने यूनानियों को पराजित कर ईरान को अपने आधिपत्य में कर लिया। पार्थिया ने ईरान पर २५० ईसा पूर्व से लेकर ई० सन् २२६ तक राज्य किया। पार्थियन आधिपत्य के समय रोम के सेनानायकों ने ईरान को जीतने का कई बार प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता न मिली। पार्थियन काल में ईरान में 'पार्थियो' अथवा पहलवी, भाषा का जन्म हुआ, जो आगे चलकर ईरान की राजभाषा हुई। सन् २२६ में पार्थियन वंश के पतन के बाद ईरान में सासान वंश का उदय हुआ। सासान वंश के शासक जोरेस्टर धर्म* के अनुयायी थे और अपनी सत्ता स्थापित होने पर उन्होंने जोरेस्टर धर्म को ईरान का राज-धर्म घोषित किया। सासान काल में

---

* जोरेस्टर धर्म के प्रवर्तक महात्मा जोरेस्टर अथवा जरथुस्त्र थे। जरथुस्त्र का समय सातवीं अथवा आठवीं सदी ईसा से 'पूर्व' बतलाया जाता है। हमारे देश के पारसी इन्हीं जरथुस्त्र द्वारा चलाये हुये धर्म के अनुयायी हैं। इस धर्म के अनुयायियों की संख्या आज ईरान में केवल ६००० है। सातवीं सदी में जब ईरान में इस्लाम का ज़ोर हुआ, उस समय इस धर्म के अनुयायी अधिकांश मुसलमान हो गये। कुछ अपने धर्म की रक्षा के लिए ईरान छोड़ कर भारतवर्ष भाग आये जिनके वंशज बम्बई प्रान्त के पारसी है। जरथुस्त्र के समय में ईरान के लोग अलग-अलग जत्थों में बँटे हुये थे। उनके अलग-अलग देवी और देवता थे, जिनकी पूजा होती थी। ज़रथुस्त्र ने बतलाया कि ईश्वर केवल एक है। अहुरमज़्द (पारसियों के अनुसार ईश्वर का नाम) सर्वज्ञ और सर्व शक्ति-मान है। हमें केवल उसी की उपासना करनी चाहिये। देवी-देवताओं के नाम पर लड़ना मूर्खता है।

साहित्य, कला और विज्ञान की उन्नति हुई। इस वंश के राजाओं ने चीन और भारतवर्ष के साथ व्यवसायिक और सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित किया। ईरान और रोम की पुरानी शत्रुता इस काल में भी बनी रही। रोम की शत्रुता ने ईरान की शक्ति को क्षीण कर डाला, जिसका परिणाम यह हुआ कि सातवीं सदी के आरंभ में जब मजहबी जोश से भरी हुई अरब की सेनाओं ने ईरान पर चढ़ाई किया तो ईरान अपनी स्वतंत्रता खो बैठा। अरब आधिपत्य के समय से ईरान में एक नये युग का आविर्भाव हुआ। इस्लाम का प्रचार बढ़ा और उसके साथ ही ईरान में एक नयी संस्कृति का जन्म हुआ और उसकी काया पलटी। अरबी और ईरानी संस्कृतियों के मेल-जोल से देश में एक नयी संस्कृति का आविर्भाव हुआ। ईरान बग़दाद के खलीफा के आधिपत्य में में आ गया। खलीफो के शासनकाल में ईरान का स्वर्णयुग आरंभ हुआ और आठवी तथा बारहवीं सदी के बीच ईरान में सर्व श्रेष्ठ कवि, साहित्यिक, इतिहासकार और वैज्ञानिक उत्पन्न हुए। उमरखैयाम, फिरदौसी और अलबरूनी इस काल की विभूतियाँ हैं। तेरहवीं सदी के आरंभ में ईरान की ग्रहदशा कुछ फिर बिगड़ी और मंगोल सेनापति चंगेजखाँ ने सन् १११६ ई० में ईरान पर चढ़ाई की। सारा ईरान नष्ट हो गया। उसके नगर जलाये गये और असंख्य ईरानी तलवार के घाट उतारे गये। प्रायः ईरान पर ऐसी विपत्ति उसके इतिहास में कभी भी नहीं आयी थी। कहा जाता है कि उस विभिपिका के प्रभाव से ईरान आज तक मुक्त हो न सका है। सन् १२५८ में चंगीजखाँ के पोते हलाकू ने खलीफा को मरवा डाला। ईरान पर मंगोल शासन सन् १३३६ तक रहा। मंगोल-पतन के बाद ईरान की एकता जाती जाती रही और ईरान छोटे-छोटे कई एक राज्यों में बँट गया,

जिन्हें फिर थोड़े ही दिन बाद तैमूर की सेनाओं ने तहस-नहस कर डाला। तैमूर के वंशजों के बाद ईरान में सफ़वी वंश का आधिपत्य हुआ। इस राजवंश के लोग ईरानी थे। इनका शासन १५०२ से लेकर १७३६ तक रहा। सफवी वंश ईरान का सब से अधिक प्रतिष्ठित राजवंश समझा जाता है। इस शासन में ईरान को एकता मिली, देश में सड़कें बनीं, व्यापार की उन्नति हुई और कला और साहित्य को भी प्रोत्साहन मिला। सफवी शासक शीया धर्म के अनुयायी थे, अतएव उनके समय में शीया धर्म ईरान का राजधर्म घोषित किया गया। आज भी शीया-धर्म ईरान का राजधर्म है। सफवी-शासकों के समय में ईरान और भारत के बीच आदान-प्रदान बहुत बढ़ गया। भारत के मुग़ल शासकों और ईरान के शाह के पारस्परिक संबंध अच्छे रहे। अठारहवीं सदी के आरंभ में सफ़वी राजाओं की शक्ति क्षीण होने लगी और सन् १७२२ में अफ़ग़ान-विद्रोह के कारण सफवी आधिपत्य ईरान से जाता रहा और देश में अराजकता फैल गयी। तुर्की सेनापति नादिरशाह ने इस अराजकता से लाभ उठाकर अपने को ईरान का शासक घोषित किया। नादिरशाह ने भारत पर भी हमला किया। परंतु वह ईरान पर अधिक दिन तक राज्य न कर सका। सन् १७४६ में वह मार डाला गया। नादिरशाह की मृत्यु के बाद ईरान में पुनः अराजकता फैल गयी और ५० वर्ष की उथल-पुथल के बाद सन् १७९६ ई० में आग़ा मोहम्मदख़ाँ ने ईरान पर अपना आधिपत्य जमाया। आग़ा मोहम्मदख़ाँ 'कज़ार' वंश के सरदार थे, इस लिए इन्होंने अपने वंश का नाम 'कज़ार वंश' रखा। कज़ार वंश के उत्थान के समय से आधुनिक इतिहास आरंभ होता है। इससे पहले ईरान का पाश्चात्य देशों से ईरान का कोई सम्पर्क न था। नासिरुद्दीनशाह ने योरप-निवासियों को

व्यवसाय-संबंधी सुविधाएँ देकर उन्हें ईरान की ओर आकर्षित किया। कुछ ही समय के बाद देश में पाश्चात्य प्रभाव बढ़ा, पर उस समय किसी को क्या ज्ञात था कि देश में पाश्चात्य प्रभाव की वृद्धि आगे चल कर घातक सिद्ध होगी ? मिट्टी के तेल के कुओं को अपने अधिकार में कर लेने के बाद अंग्रेज़ और रूसियों ने ईरान की राजनीति में भी दखल देना आरंभ किया। इस प्रकार १९ वीं सदी के आरम्भ में ही ईरान के प्रश्न को लेकर रूस और ब्रिटेन में प्रतिस्पर्द्धा आरंभ हो गयी। ज़ार की आँख तो बहुत पहले से ईरान पर थी। रूस को 'खुले बंदरगाह' की आवश्यकता पीटर महान् के समय से ही महसूस हो रही थी। ईरान हाथ में आ जाने पर उसकी यह आवश्यकता पूरी हो जाती। इधर ब्रिटेन भी ईरान में अपने व्यवसायिक स्वार्थों की रक्षा के लिए वहाँ किसी दूसरी शक्ति का प्रभाव सहन न कर सकता था। रूस और ब्रिटेन दोनों ईरान को अपने प्रभाव-क्षेत्र से रखना चाहते थे। अतएव उसके साथ मित्रता बढ़ाने के लिए दोनों ने होड़ लगा दी। ईरान के लोग रूस और ब्रिटेन दोनों की नीयत को समझ गये, पर उनमें इतनी शक्ति न थी कि इन राष्ट्रों की साम्राज्यवादी चालों से अपना पीछा छुड़ाते। लगभग एक सौ वर्ष तक ब्रिटेन और रूस की प्रतिस्पर्द्धा चलती रही। अंत में सन् १९०७ में ईरान के प्रश्न पर उनके बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार उत्तरी ईरान रूस के प्रभाव-क्षेत्र में और दक्षिणी ईरान ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया। व्यवसायिक और राजनीतिक दृष्टि से ईरान का बँटवारा हो गया, यद्यपि कहने के लिए ईरान स्वतंत्र राष्ट्र बना रहा। सन् १९१४ में जिस समय योरोपीय युद्ध छिड़ा, ईरान की स्थिति और भी दयनीय हो चली। रूसी और ब्रिटिश सेनाओं के बीच ईरान एक युद्धस्थल बन गया।

सन् १९१७ में रूसी क्रान्ति के समय रूस की सेनाएँ ईरान से हट गयीं। पूरा ईरान ब्रिटेन के हाथ में आ गया। ब्रिटेन ने ईरान को अपने संरक्षण में लेना चाहा, परन्तु ईरानी राष्ट्रवादियों के विरोध के कारण ब्रिटेन को अपनी नीति बदलनी पड़ी। सन् १९१८ में ब्रिटिश फौज ईरान से हटी। ईरान को स्वतंत्रता तो मिली, परंतु उसकी स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। देश में साम्राज्यवादी स्वार्थों का संघर्ष चलता रहा। कजार शासक देश की बिगड़ती हुई स्थिति को सम्हाल न सके। युद्ध के बाद रिज़ाखाँ पहलवी नाम के एक योग्य सेनापति ने राष्ट्रीय सेना का संगठन किया और सन् १९२३ में कजार शासन को उखाड़ फेंका। सन् १९२६ में रज़ाखाँ पहलवी ईरान का शाह घोषित हुआ। रज़ाशाह देशभक्त शासक था। उसने अपनी योग्यता और चरित्र-बल से देश को शांति प्रदान किया। अपने शासनकाल में उसने ईरान को एक शक्तिशाली आधुनिक राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया और उसे अपने उद्देश्यों में बहुत सफलता भी मिली। रज़ाशाह रूस और ब्रिटेन दोनों की नीति को अपने देश के लिए घातक समझता था, अतः उसने तटस्थता की नीति को अपनाया। इसी नीति के अनुसार द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर रज़ाशाह ने मित्रराष्ट्र और धुरी राष्ट्र, दोनों गुटों से अलग रहने का निश्चय किया। परंतु ब्रिटेन और रूस में से किसी को उसकी तटस्थ नीति पसंद न आयी। अपनी ओर मिलाने के लिए दोनों ने ईरान पर दबाव डालना आरंभ किया। अंत में सन् १९४१ में रूसी और ब्रिटिश सेनाएँ ईरान में उतर आयीं और विवश होकर सन् १९४२ में रज़ाशाह को अपने लड़के मुहम्मद रज़ा शाहपुर के पक्ष में गद्दी छोड़नी पड़ी। रज़ाशाह के हटने में ब्रिटेन का हाथ था। मुहम्मदरज़ा शाहपुर ईरान के वर्तमान शासक हैं।

शासन

सन् १९०६ ई० से पहले ईरान का शाह स्वेच्छाचारी शासक था। ईरानी जनक्रान्ति के बाद ईरान के विधान में परिवर्तन हुआ। आज ईरान का शासन इसी विधान के अनुसार चलाया जा रहा है। इस विधान के अनुसार एक पार्लियामेंट की स्थापना की गयी जिसे 'मजलिस' कहते हैं। मजलिस के निर्वाचित सदस्यों की संख्या १३६ है। २१ वर्ष से ऊपर की आयु का हर व्यक्ति मजलिस के चुनाव में भाग ले सकता है। युद्ध से पहले ईरान में कोई राजनीतिक दल नहीं थे, चुनाव पार्टी के आधार पर नहीं, उम्मेदवारों की योग्यता पर लड़े जाते थे। युद्ध के समय कुछ पार्टियाँ बनीं, जिनमें 'तूदेह' पार्टी प्रमुख है। लेकिन आज भी ईरान की राजनीति पर इन पार्टियों का कोई विशेष प्रभाव नहीं है। शीया धर्म ईरान का राजधर्म है, अतएव वर्तमान विधान में मजलिस के ५ सदस्य शीया मुज्तहिद होते हैं। इन मुज्तहिदों को विधान में विशेष अधिकार दिये गये हैं। मजलिस का जो नियम शरैयत के विरुद्ध हो उसे ये लोग रद्द कर सकते हैं। इस संबंध में उनका निर्णय अंतिम होता है। मंत्रिमंडल के सब सदस्य ईरानी मुसलमान होते हैं। मंत्रियों की नियुक्ति शाह करता है, यद्यपि मंत्रिमंडल मजलिस के प्रति उत्तरदायी है, पर वह शाह के इशारे पर ही कार्य करता है। विधानतः मजलिस ही नियम बनाती और मंत्रिमंडल के हर एक प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति देती है। पर वास्तव में मजलिस शाह की इच्छा पर चलती और अमल करती है। ईरान के विधान में परिवर्तन करने के लिए एक विधान-निर्मात्री परिषद् की घोषणा की गई है।

प्रान्तीय और स्वायत्त शासन

आज दिन ईरान में १० सूबे हैं। गवर्नर जनरल सूबे का प्रधान कर्मचारी होता है। ईरान में सूबे को 'उस्तान' कहते हैं। हर एक सूबा कई शहरिस्तानों में बँटा होता है। शहरिस्तान हमारे जिलों की तरह होते है। शहरिस्तान में कइ 'बख़्श' और बख़्श में 'देहिस्तान' होते है। 'बख़्श' हमारे यहाँ की तहसील और 'देहिस्तान' गाँवों की तरह है। ईरान के प्रमुख नगरों में म्युनिसिपलबोर्ड भी स्थापित है। अन्य इस्लामी देशों की तरह ईरान का का न्याय-विधान भी अभी कुछ दिन पहले तक इस्लामी शरह के अनुसार था। सन् १९२७ में रज़ाशाह ने शरह की पद्धति को तोड़ दिया। ईरान का प्रस्तुत दंड-विधान फ्रांस के दंड-विधान के आधार पर निर्मित किया गया है।

भूमि सम्बन्धी नियम

ईरान में सन् १९४६ से पहले भूमि-संबंधी कोई लिखित नियम नहीं था। सन् १९४६ में ईरान के इतिहास में पहली बार भूमि-संबंधी नियम बनाने का प्रयत्न किया गया था। आज भी ज़मींदार और किसानों के पारस्परिक संबंध देश में एक-से नहीं हैं। अलग-अलग प्रांतों में प्रायः अलग-अलग नियम प्रचलित हैं। ईरान में भूमि के सम्बन्ध में जो नियम प्रायः पूरे देश में बर्ता जाता है वह यह है कि कृषि के पाँच प्रधान अंगो के आधार पर उपज का बँटवारा ज़मींदार और किसान के बीच होता है। कृषि के पाँच प्रधान अंग भूमि, बीज, पानी, बैल और श्रम है। प्रायः भूमि और नहर (क़नात) ज़मींदार की होती है। किसान बीज, बैल और श्रम देता है। वर्ष के अंत में उपज कुल पाँच हिस्सों में बाँट दी जाती है, दो भाग ज़मींदार पाता है और तीन भाग किसान। यदि ज़मींदार ने बीज भी दिये

तो उसे तीन भाग मिलेंगे और किसान को दो। इस प्रकार कुछ अंशों में किसान ज़मींदार का साझीदार होता और अपनी लागत के अनुसार उपज पाता है। परंतु अधिक ज़मींदार मज़दूरों से खेती कराते हैं। ऐसी स्थिति में मज़दूरों को मज़दूरी के अलावा और कुछ नहीं मिलता। कभी-कभी ज़मींदार किसानों को लगान पर भी ज़मीन दे देते हैं। ज़मीन तो ज़मींदार की ही बनी रहती है, किंतु उस पर बनाये हुए मकान या लगाये हुए बाग़ और फल किसान के होते हैं। किसान यदि चाहे तो मकान और बाग़ को किसी दूसरे के हाथ बेच सकता है और अपने मकान और पेड़ों की रजिस्ट्री भी करा सकता है। जब तक वह लगान देता है तब तक बेदख़ल नहीं किया जा सकता। यह सब होते हुये भी ईरानी किसानों की स्थिति अच्छी नहीं है। अधिकांश ज़मीन ज़मींदारों के हाथ में है। किसान स्वतंत्र रूप से खेती नहीं कर सकता।

कृषि और व्यवसाय

ईरान में खेती पुराने ढंग पर होती है। जोतने, बोने, काटने और खलिहान करने के ढंग हमारे देश के गाँवों की तरह अभी पुराने हैं। खेती के आधुनिक औज़ार, ट्रैक्टर वग़ैरह अभी ईरान में प्रायः नहीं के बराबर हैं। हाँ, चावल और गेहूँ निकालने की मशीनें कई नगरों में आ गयी हैं। पानी की कमी के कारण ईरान की उपजाऊ भूमि का एक बहुत बड़ा भाग बेकार पड़ा रहता है। केवल १/१६ भाग पर खेती होती है। यही कारण है कि ईरान की उपज उसके विस्तार की तुलना में बहुत कम है। पिछले आठ वर्षों से ईरान की सरकार देश में कृषि की उन्नति के लिए प्रयत्नशील है। सिंचाई की योजनाएँ बनायी गयी हैं। सन् १९४० में कृषि-संबंधी एक पंचवर्षीय

योजना आरंभ की गयी है। कई स्थानों में खाद बनाने की मशीनें लगाई गयी हैं। नये जंगलों के लगाने की ओर भी सरकार का ध्यान है।

जिस तरह पानी की कमी ईरान की कृषि की उन्नति में बाधक है, उसी तरह यातायात की कठिनाइयाँ उसके व्यवसायिक प्रगति में बाधक सिद्ध हुई हैं। ईरान में अच्छी सड़कें बहुत कम हैं। इधर कुछ नई सड़कें बनायी जा रही हैं। विस्तार को देखते हुए ईरान में रेलवे-लाइन भी बहुत कम हैं। सब से बड़ी रेलवे लाइन कैस्पियन सागर से लेकर फारस की खाड़ी तक है। यह लाइन भी अभी सन् १६३८ में पूरी हुई है। ईरान के मुख्य निर्यात मिट्टी का तेल, कालीन, सूखे फल, रेशम, ऊन, चावल और अफ़ीम है। खनिज पदार्थों से मिट्टी का तेल ईरान की प्रधान उपज है। ईरान की खदानों से हर वर्ष लगभग १ करोड़ टन मिट्टी का तेल निकलता है। ऐंग्लो ईरानियन आयल कम्पनी के ५० प्रतिशत से अधिक हिस्से ब्रिटेन के है। लोहा, ताँबा, सीसा, सोना, चाँदी और मैंगनीज ईरान के दूसरे प्रधान खनिज द्रव्य है। ईरान आज उद्योगीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है। गन्ना, सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ों की मिलों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। इसके अतिरिक्त जूट, चमड़े, दियासलाई, साबुन, सीसे आदि के कारखाने ईरान में पहले से हैं। अब ईरान में जितने नये व्यवसाय खुल रहे है, वे सभी राष्ट्र के नियंत्रण में है। फिर भी उद्योगीकरण की रफ्तार यहाँ बहुत धीमी है। देश की राजनैतिक अस्थिरता उसके औद्योगिक विकास में बाधक बन रही है। उद्योगों के कुंठित विकास का फल यह है कि ईरान को आज भी सूती कपड़े, चीनी, मशीनें आदि आवश्यक चीजें विदेशों से मँगानी पड़ती है।

शिक्षा प्रसार

राष्ट्रीय जन आंदोलन से पहले (सन् १६०६-७) ईरान में शिक्षा का नितांत अभाव था। लगभग ६५ प्रतिशत ईरानी जनता अशिक्षित थी। उच्च वर्ग के लड़के अधिकतर मकतबों में पढ़ने जाते थे, जहाँ उनको धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। ईरान में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का श्रीगणेश मध्य १६ वीं सदी के आस-पास हुआ। सन् १८५१ ई० में तेहरान में पाश्चात्य भाषाओं और विज्ञान की शिक्षा के लिए एक कालेज खोला गया। थोड़े दिनों के बाद ईरानी विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए विदेशों में भी जाने लगे। मिश्नरियों ने भी पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार में हाथ बँटाया। ईरान के प्रमुख नगरों में अंग्रेज मिश्नरियों ने अंग्रेजी शिक्षा के लिए स्कूल खोले रखे थे। इस प्रकार ईरानी जन-क्रांति से पहले देश में धीरे-धीरे पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार हो रहा था। परन्तु जन क्रांति के बाद शिक्षा-प्रसार के वेग में जो स्फूर्ति आयी वह ईरान के इतिहास में अद्वितीय है। पिछले ४० वर्षों में देश में शिक्षा का आशातीत प्रसार हुआ है। सन् १६३५ ई० में रजाशाह ने तेहरान विश्वविद्यालय की नींव डाली। तेहरान विश्वविद्यालय में कला, साहित्य, विज्ञान, इञ्जीनियरिंग, चिकित्सा और धर्म-शास्त्र की शिक्षा दी जाती है। आज ईरान में टेकनिकल और व्यवसायिक शिक्षा की ओर भी लोगों की विशेष रुचि है। देश के विभिन्न भागों में लड़कों और लड़कियों के लिए टेकनिकल स्कूल हैं, जहाँ उन्हें तरह-तरह की दस्तकारियाँ सिखलायी जाती हैं। ईरान के लोग विदेशी शिक्षा के लिए भी बड़े उत्सुक रहते हैं। सन् १६२७ ई० से प्रति वर्ष १०० विद्यार्थी सरकार की ओर से विदेशों में शिक्षा पाने के लिए भेजे जाते हैं। आज ईरान में लगभग ५ हजार शिक्षा-संस्थाएँ हैं। ईरानी सरकार निरक्षरता

मिटा देने के लिए तत्पर है। प्रौढ़-शिक्षा के लिए रात्रि-पाठशालाएँ खोली गयी हैं। सन् १९४४ में ईरानी पार्लियामेन्ट ने निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के लिए प्रस्ताव किया था। किंतु आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह प्रस्ताव अभी तक सन १९४९ कार्यान्वित नहीं हो सका है।

सामाजिक स्थिति

सामाजिक क्षेत्र में भी आज ईरान प्रगति के पथ पर है। ईरानी सामाजिक जीवन के हर एक पहलू पर पाश्चात्य कलई बड़ी तेजी के साथ दौड़ रही है। पुराने रस्म-रिवाज और परम्पराओं को छोड़ कर लोग नये ढंग और नयी रहन-सहन अपना रहे हैं। पारिवारिक जीवन भी पाश्चात्य प्रभाव से अछूता नहीं है। नारी-समाज की स्थिति में मौलिक परिवर्तन हुए हैं। सन् १९३५ में रज़ाशाह ने पर्दा की प्रथा को हटा दिया। आज ईरान में बुर्के नजर नहीं आते। बहु-विवाह और बाल-विवाह की प्रथाएँ, जो ईरान में सदियों से चली आ रही थीं, अनियमित करार दे दी गयी है। ईरानी स्त्रियों को आज विकास का पूरा अवसर है। धर्म और परम्परा अब उनके रास्ते में बाधक नहीं हैं। उनके लिए देश में उच्चतम शिक्षा का प्रबंध है। ईरानी लड़कियाँ शिक्षा के लिए विदेशों में भी भेजी जा रही है। आज ईरानी स्त्रियाँ स्कूलों में अध्यापिका, दफ्तरों में क्लर्क, टाइपिस्ट, अस्पतालों में डाक्टर और नर्स का काम कर रही है। बहुत-सी लड़कियाँ हवाई जहाज चलाने की ट्रेनिंग लेकर चालक का काम भी कर रही हैं। ईरान की जागृत महिला देश में बढ़ते हुए पाश्चात्य प्रभाव का द्योतक है।

राजनैतिक स्थिति

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ईरान आज कृषि, व्यवसाय, शिक्षा, समाज-सुधार आदि हर क्षेत्र में आगे बढ़ रहा है। उसके

राष्ट्रीय जीवन का कोई पहलू यदि संदेहात्मक और अनिश्चित है, तो वह वहाँ की राजनीति है। बाह्य हस्तक्षेप के कारण ईरान में आज भी अव्यवस्था और अशांति है। उसके प्राकृतिक साधनों का शोषण जारी है। विगत युद्ध से पहले ईरान में केवल दो शक्तियों—रूस और ब्रिटेन-का टक्कर था। युद्ध के समय से संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी क्षेत्र में उतर आया है। इस प्रकार ईरान आज तीन विश्व शक्तियों के स्वार्थों का अखाड़ा बन गया है। ईरान में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के स्वार्थ परस्पर विरोधी है जो सदैव एक-दूसरे से टक्कर लिया करते है। ब्रिटेन का स्वार्थ प्रधानतः व्यवसायिक है। दक्षिणी ईरान के मिट्टी के तेल के व्यवसाय में ब्रिटिश उद्योगपतियों की बहुत बड़ी पूँजी है। वे हर सम्भव उपाय द्वारा अपने व्यवसायिक स्वार्थ की रक्षा करना चाहते है। ईरान में रूस और अमेरिका के स्वार्थ प्रधानतः राजनीतिक और गौड़ रूप से व्यवसायिक है। दोनों ईरान को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आना चाहते है। ईरान में रूस के प्रसार का आधार एज़रबेजान है। अमेरिका अपने डालर के बल पर ईरान में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। पिछले तीन वर्षों से देश में अमेरिका का प्रभाव क्रमशः बढ़ता रहा है। अमेरिका का एक सैनिक मिशन ईरान की सेना का संगठन कर रहा है। सेना में अमेरिकनों को ऊँचे-ऊँचे पद दिये गये है। अमेरिकन विशेषज्ञों की देख-रेख में देश के विभिन्न भागों में हवाई अड्डे बनाये गये हैं और सोवियट-ईरान सीमा पर किलेबंदी भी की गयी है। सेना के अतिरिक्त अर्थ और वाणिज्य-विभागों में भी अमेरिकन अच्छे-अच्छे पदों पर हैं। सन् १९४६ में एक गुप्त संधि के अनुसार अमेरिका ने ईरान को २३ लाख डालर ऋण दिया। आज अमेरिकन डालर का जादू मजलिस के सदस्यों पर भी चढ़ गया है। कुछ दिन

हुए मजलिस के एक सदस्य ने कहा था कि ईरानी मजलिस के अधिकांश सदस्य वाशिंगटन के वेतन-भोगी हैं।

ईरान में अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभाव से ब्रिटेन और रूस दोनों चिंतित हैं। अमेरिका के उद्योगपति ईरान के तेल के व्यवसाय में घुसना चाहते हैं। ब्रिटिश उद्योगपति उसमें किसी का साझा नहीं चाहते। सन् १९४७ में जब अमेरिका का प्रभाव प्रधान मंत्री सुल्तानेह गवाम पर बढ़ा तो अंग्रेज व्यवसायियों को संदेह हुआ कि कहीं तेल का व्यवसाय उनके हाथ से निकल जाय। उन्होंने झट ईरान में गवाम के विरुद्ध एक आंदोलन खड़ा कर दिया और अंत में गवाम को हटना पड़ा। ईरान से सम्बन्धित रूस और अमेरिका के मतभेद इस से कहीं अधिक गहरे और मौलिक हैं। सुदूरपूर्व में जो स्थिति चीन की रही है, मध्य-पूर्व में वैसी ही स्थिति ईरान की है। जिन विभिन्न आदर्शों और उद्देश्यों को लेकर रूस और अमेरिका चीन के गृहयुद्ध में विरोधी दलों का साथ दिये हैं। उन्हीं आदर्शों को लेकर उनके बीच ईरान में भी संघर्ष चल रहा है। इन आदर्शों और सिद्धांतों के युद्ध में अमेरिका और ब्रिटेन एक साथ हैं। सन् १९४२ से ईरान में जितने उथल-पुथल हुए हैं उनकी जड़ में इन्हीं बाह्य शक्तियों का कोई-न-कोई स्वार्थ रहा है। अतएव यह स्पष्ट है कि जब तक ईरान में बाहरी शक्तियों का स्वार्थमय हस्तक्षेप बना रहेगा तब तक उसे कोई शांति न मिलेगी।

ईरान और भारतवर्ष

प्राचीन और मध्यकालीन युगों में भारतवर्ष का सम्बन्ध जितने देशों से रहा, उन सब में ईरान का प्रभाव हमारे ऊपर सब से अधिक पड़ा है। ईरान के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध रहा है और यह सम्बन्ध ईरान में इस्लाम के प्रचार के सदियों पहले से चला

आया है। ईरान से हमारा यह सम्पर्क केवल व्यवसायिक और राजनीतिक ही नहीं वरन् जातीय और सांस्कृतिक भी था। हमारे इस जातीय और सांस्कृतिक सम्पर्क के दो जीवित और अकाट्य प्रमाण हैं। वे हैं ज़ोरेस्टर धर्म और फारसी भाषा। इस सम्बन्ध के प्रतीक ज़ोरेस्टर धर्म के अनुयायी 'पारसी' हैं, जो एक बड़ी संख्या में हमारे देश में पिछले १३०० वर्षों से रह रहे हैं। ज़ोरेस्टर धर्म और संस्कृति इस बात के प्रमाण हैं कि अलग होने से पहले ईरानी और भारतीय एक ही देश और सम्भवतः एक ही जाति के रहे होंगे। इसी बात की पुष्टि ईरान की भाषा से भी होती है। ईरान में इस्लाम के प्रचार से पहले जो भाषा बोली जाती थी और जिसमें ज़ेन्दा अवस्ता लिखा गया है वह तो स्पष्टतः प्राचीन संस्कृति से मिलती है। सातवीं सदी के बाद ईरान में जिस भाषा का जन्म हुआ और जो आगे चल कर फारसी कहलाई, उसमें भी बहुत-से संस्कृत के मूल शब्द पाये जाते हैं। संस्कृत और फारसी का विकास अलग-अलग देशों में हुआ। अतएव फारसी में संस्कृत शब्दों को पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि किसी समय ईरान और भारत के सांस्कृतिक श्रोत एक ही रहे होंगे। फारसी में पचलित संस्कृत शब्दों में से कुछ नीचे दिये जाते है —

संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फारसी
अभ्र	अब्र	दाघ	दाग़	भार	बार
अश्व	अस्प	दारु	दार(लकड़ी)	वात	बाद (वायु)
आपस्	आब	दुहिता	दुख़्तर	पितृ	पेदर
कर्द	गर्द	तपस्	तापश	पंच	पंज
कुलाल	कुलाल	ताम्बूल	तम्बूल	पुर पुरु	(भरा हुआ)
कार्यकर	कारगार	धाना	दाना	महत्तर	मेहतर

संस्कृत	फारसी	संस्कृत	फ़ारसी	संस्कृत	फ़ारस
खास	खारिश	द्वार	दार	मातृ	मदर
चर्म	चर्म	नेम	नीम	मास	माह
		निहित	निहाँ	माषः	माश
		पलाश	पलास	पष	शश
		पारद	पारा	सप्ताह	हफ़्ता
		श्वेत	सफ़ैद	शृगाल	शगाल
		छत्र	चत्र	सर्व	सर्वीन

यह तो हुई हमारे प्राचीन सम्पर्क की बात। आइए, ईरान के मध्यकालीन और आधुनिक सम्बन्धों का विश्लेषण करें। मुसलमानी विजय के बाद मध्य एशिया के दूसरे देशों के साथ भारतवर्ष ईरान के भी निकट सम्पर्क में आया। लगभग ७०० वर्षों तक दोनों देशो के बीच आदान-प्रदान होता रहा। मुसलमानी शासन में फारसी संस्कृति का प्रभाव हिन्दुस्तान में ऐसा बढ़ा कि बारहवीं सदी में फारसी हिन्दुस्तान की राजभाषा हो गयी और मुग़लों के समय तक राजभाषा बनी रही। इस काल में हिन्दुस्तान में फारसी का वही महत्त्व था जो ब्रिटिश शासन में अंग्रेज़ी का रहा है। सरकारी नौकरियों के लिए फारसी जानना अनिवार्य हो गया था। अतएव हिन्दुस्तान के लोग फारसी की ओर झुके। मुग़ल काल में फारसी के अनेक अच्छे कवि इस देश में हुये। आज भी हिन्दुस्तान में फारसी के विद्वानों की कमी नहीं है। हमारे मध्यकालीन इतिहास और साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग फारसी में है।

मध्यकालीन युग में भारत और ईरान के बीच राजनीतिक सम्पर्क मुग़लों के शासन में बढ़ा। भारत से भागकर हुमायूँ ने ईरान के शाह के यहाँ शरण ली और उसी की सहायता से फिर

हिन्दुस्तान का राज्य हुमायूँ को मिला। मुग़ल सम्राटों ने ईरान से मैत्री-सम्बन्ध क़ायम रखा और उनके दरबार में ईरानी विद्वानों और कला-विशारदों का ताँता लगा रहा। नादिरशाह के हमले के बाद भारतवर्ष और ईरान के सम्बन्धों में कुछ कटुता आ गयी और हमारा सम्पर्क भी कम हो गया। ब्रिटिश आधिपत्य के स्थापित होते ही ईरान से ही नहीं अन्य पड़ोसी राष्ट्रों से भी हमारा संपर्क टूट-सा गया।

लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक हम अंधकार में रहे। १६ वीं सदी के उत्तरार्ध में हम एक लम्बी तन्द्रा के बाद फिर जगे। विदेशी शासन के विरुद्ध हमारे देश में आवाज़ उठी और आन्दोलन छिड़ा। धीरे-धीरे हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर ईरान और मध्य पूर्व के दूसरे देशों में पहुँची। वे भी उस लहर से प्रभावित हुये। एक दूसरे के साथ सहानुभूति बढ़ी और पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरोध में हम सब एक हो गये। स्वतंत्रता के कुछ वर्ष पहले तक मध्य पूर्व के राष्ट्रों से हमारा अच्छा सम्बन्ध था, परन्तु भारतवर्ष में जब से पाकिस्तान आन्दोलन छिड़ा तब से हमारे सम्बन्धों में कटुता आने लगी। सन् १६४७ के साम्प्रदायिक झगड़ों का प्रभाव ईरान में भी पड़ा और वहाँ भी कई स्थानों में साम्प्रदायिक दंगे हुये। सम्भव है, थोड़े समय के लिए यह कटुता कायम रहे और भारतवर्ष तथा पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर धर्म-पक्ष के नाते ईरान मध्य-पूर्व के अन्य देशों के साथ भारतवर्ष का विरोधी बन जाय। यदि ऐसा हुआ तो इसमें आश्चर्य ही क्या? पाकिस्तान की ओर से मुसलिम-राष्ट्रों में भारत-विरोधी झूठे और गन्दे प्रचार किये गए हैं। सन् १६४७ की घटनाओं का अतिरंजित वर्णन इन देशों में भेजा गया है। महात्मा गांधी को इस्लाम का शत्रु बतलाया जाता है। भारत-विरोधी इन प्रचारों का फल यह हुआ है

किमध्य पूर्व के प्राय: सभी देशों में भारत-विरोधी (हिन्दू-विरोधी) भावनाएँ जागृत हो गयी हैं। इस प्रचार से हमें सतर्क रहना है और इन राष्ट्रों मे इस बात का प्रचार करना है कि भारतवर्ष असाम्प्रदायिक राज्य स्थापित करना चाहता है, जिसमें हर जाति और हर धर्म के लोगों को समान अधिकार होंगे। हमार विश्वास है कि वह समय दूर नही जब पाकिस्तान द्वारा प्रचारित अविश्वास और सन्देह के बादल प्रेम और सद्भावना के झकोरों में विलीन हो जायेंगे और अपनी सांस्कृतिक एकता के आधार पर ईरान और भारतवर्ष के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होगा। इस मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध के लक्षण अभी भी प्रतीत होने लगे है।

अरब

मध्यपूर्व के अरब राष्ट्र

इतिहास-प्रसिद्ध अरब-जाति, जिसके हाथ में कभी समस्त मध्यपूर्व का नेतृत्व था, आज साम्राज्यवाद की चालों से छिन्न-भिन्न पड़ी है। मध्यपूर्व में ईरान और टर्की को छोड़कर अन्य सभी देशों के निवासी अधिकांश अरब जाति के हैं। मध्यपूर्व में सब मिलाकर अरबों की संख्या लगभग चार करोड़ बतलाई जाती है। जिसमें से १ करोड़ ७० लाख केवल मिस्र में हैं। अरब प्रायद्वीप में अरबों की संख्या लगभग ६५ लाख, ईराक में ३२ लाख, सीरिया और लेबनान को मिलाकर ३० लाख, फिलिस्तीन में १० लाख और ट्रान्सजोर्डन में ५ लाख है। इसके अतिरिक्त पूर्वी रूमसागर और फारस की खाड़ी के बहरैन आदि द्वीपों में भी अरबों की आबादी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक दृष्टि से अरब-जाति विभिन्न देशों में बँटी हुई है। किन्तु इस राजनैतिक पृथकता के होते हुए भी अरबों में जातीय और राष्ट्रीय भावनाएँ वर्तमान हैं। सभी अरब इस्लाम के अनुयायी हैं और एक दूसरे को भाई-भाई समझते हैं। फिलिस्तीन को लेकर अरब राष्ट्रों ने जिस जातीय एकता का परिचय दिया है उससे उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी मिश्र, अरब, सीरिया, लेबनान, फिलिस्तीन ईरान आदि देशों की अरबी जनता में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कुछ कबीले जत्थों को

छोड़कर प्रायः सभी देशों के अरब अरबी भाषा बोलते या समझते हैं। उनके आचार विचार और सामाजिक रीति-रिवाज भी प्रायः एक से हैं।

अरब जाति और सभ्यता की उत्पत्ति अरब प्रायद्वीप में हुई और अरब राष्ट्रों में से भारतवर्ष का सम्बन्ध प्रधानतः अरब से रहा है। अतएव इस अध्याय में हम केवल अरब का उल्लेख करेंगे और भारतवर्ष के साथ इसके सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

अरब की भौगोलिक स्थिति

एशिया के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित अरब विस्तार में मध्यपूर्व के देशों में सबसे बड़ा है। पूरे अरब प्रायद्वीप का क्षेत्र-फल लगभग १० लाख वर्ग मील है जो अफगानिस्तान के क्षेत्रफल का चार गुना और भारतवर्ष एवं पाकिस्तान के क्षेत्रफल का $\frac{3}{4}$ है। पश्चिम में लाल सागर, दक्षिण में अरब सागर, पूर्व में फ़ारस की खाड़ी और उत्तर में ईराक़ और ट्रान्सजोर्डन अरब की सीमाएँ निर्धारित करते हैं। अरब प्रायद्वीप एक पठार है, जिसका ढाल दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर है, दक्षिण-पश्चिम में इसकी सबसे अधिक ऊँचाई १० हज़ार फ़ीट है। पूरे प्रायद्वीप का लगभग एक तिहाई भाग रेगिस्तान है। शेष अरब का अधिकांश भाग भी पानी की कमी और अनिश्चित बरसात के कारण इतना सूखा है कि स्थायी निवास के लिए उपयुक्त नहीं है। यही कारण है कि अरब की जनसंख्या उससे विस्तार की दृष्टि से बहुत कम है। अरब की वर्तमान जनसंख्या १ करोड़ बतलाई जाती है, जो अफ-गानिस्तान की जनसंख्या से भी कुछ कम है। अधिकांश अरब जनता समुद्र के किनारे घाटियों और नखलिस्तानों में रहती है।

प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से अरब प्रायद्वीप तीन भागों में बाँटा जा सकता है। उत्तर अरब, मध्य-अरब और दक्षिण-अरब।

उत्तर-अरब पश्चिम में मीडियन सागर से लेकर पूर्व में फारस की खाड़ी तक फैला हुआ है। प्रायः पूरा क्षेत्र रेगिस्तान है; लेकिन इस भाग में कहीं-कहीं अच्छे चरागाह भी हैं। इन चरागाहों में गड़रिये अपने ढोरों के साथ रहते हैं। उत्तर-अरब में गाँव बहुत कम हैं। यहाँ के लोग प्रायः ढोरों के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण किया करते हैं और जहाँ कहीं उनके ढोरों के लिए चारा मिल जाता है वहीं कुछ दिन के लिए ठहर जाते हैं। इस भाग में खेती के लिये उपयुक्त भूमि बहुत कम है। चारागाहों के आसपास थोड़ी बहुत खेती होती है। इस क्षेत्र के निवासियों के धन उनके पशु हैं। समस्त उत्तर-अरब में ऊन का अच्छा व्यवसाय होता है।

मध्य भाग के अन्तर्गत हेजाज़, नज्द और यलहासा के प्रांत आते हैं। मध्य अरब भी अधिकतर सूखा है। मीलों चलने पर भी यहाँ वृक्ष या हरियाली के दर्शन नहीं होते। लेकिन इन भागों में उपजाऊ घाटियाँ और नखलिस्तान बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। इन घाटियों में अच्छी खेती होती है, इनमें बड़े-बड़े नगर और उनके आस-पास हरे भरे गाँव बसे हैं। मक्का और मदीना इसी भाग में है।

दक्षिण-अरब में असीर, यमन हद्रमत और उमान के पठार सम्मिलित हैं। दक्षिण-अरब के वे भाग जो समुद्र के निकट हैं वहाँ अच्छी बरसात होती है और जलवायु भी सुहावना होता है। समुद्र तट के निकट जौ, गेहूँ, मक्का, बाजरा की अच्छी उपज होती है और आबादी भी प्रायद्वीप के दूसरे भागों की अपेक्षा घनी है। उमान का बतीना किनारा अरब प्रायःद्वीप का सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्र है। किन्तु दक्षिण-अरब की हरियाली और उसका सुहावना जलवायु समुद्र तट और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों तक ही सीमित है क्योंकि समुद्र तट से कुछ ही दूरी पर दक्षिण-अरब का दहाना रेगिस्तान आरम्भ हो जाता है। इस रेगिस्तानी खण्ड को

अरब के लोग 'रूबायल खाली' कहते हैं, जिसका अर्थ है 'निर्जन और शून्य स्थल'।

जलवायु

अरब प्रायद्वीप संसार के सब से अधिक गर्म देशों में है। अरब मे अत्यधिक गर्मी के दो कारण हैं ; देश का सूखा धरातल और उसकी भौगोलिक स्थिति। दक्षिण पश्चिम के पहाड़ी क्षेत्र, यमन उमान को छोड़कर प्रायः सारा प्रायद्वीप शुष्क है। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त अरब में जहाँ कहीं बरसात होती है वह बहुत कम और अनिश्चित है। अरब में बरसात की कमी का कारण यह है कि उसकी पर्वत श्रेणियाँ इतनी ऊँची नहीं है कि मानसूनी हवाओं को रोककर देश में पानी बरसावें। अरब में हमारे देश की तरह नदियाँ भी नहीं है। पहाड़ों से जो नदियाँ निकलती हैं वे रेगिस्तानों में पहुँचकर लुप्त हो जाता है। इन नदियों में केवल बरसात के दिनों में पानी रहता है और ये तेजी से बहती हुई दिखलाई पड़ती है। वर्ष के दूसरे महीनों में ये नदियाँ सूखी रहती हैं। कँकरीली और रेतीली भूमि और पानी की कमी के कारण प्रायःद्वीप के अधिकांश भाग में साल भर अत्यधिक गर्मी पड़ती है। गर्मी के दिनों में भयंकर तूफान उठते हैं, जहाँ देखिये वहीं बालू के पर्वत एक स्थान से दूसरे स्थान को उठते हुये पाये जाते हैं। उत्तर और दक्षिण-अरब के वे स्थान जो ३००० फ़ीट से अधिक ऊँचे हैं वहाँ दिन तो गर्म होते हैं लेकिन रातें ठण्डी हो जाती है। असीर यमन और उमान के पठारों का जलवायु परमित हैं। यहाँ वर्ष के किसी भी भाग में अधिक गर्मी नहीं पड़ती। जाड़े में यहाँ खासा जाड़ा पड़ता है। उत्तर-अरब की सीमा पर जाड़े के दिनों में बर्फ भी गिरती है।

अरब की राजनैतिक टुकड़ियाँ

शासन की दृष्टि से अरब एक सम्बद्ध देश नहीं है। अरब

प्रायद्वीप कई राजनैतिक भागों में बँटा हुआ है। प्रायद्वीप का सबसे बड़ा राजनैतिक खण्ड सऊदी अरब है। पूरे प्रायद्वीप का लगभग ¾ भाग सऊदी शासन के अन्तर्गत है। अरब के प्राय-सभी ऐतिहसिक नगर और स्थान सऊदी अरब में है। सऊदी अरब एक स्वतंत्र राष्ट्र है, इसका शासन बहावी शासकों के हाथ में है। बर्तमान शासक अब्दुल अज़ीज़ तृतीय है। अरब प्रायःद्वीप की राजनीति में आज जो स्थान सऊदी अरब का है वह प्रायद्वीप के अन्य किसी राज्य को प्राप्त नहीं है।

सऊदी अरब के अतिरिक्त प्रायद्वीप में जितने दूसरे छोटे-बड़े राज्य है, उनमें से हर एक किसी न किसी अंश में ब्रिटेन के संरक्षण में हैं इनमें से यम्न, मस्क़त और उमान, कुवैत, बहरैन और अदन प्रोटेक्टरेट अधिक प्रसिद्ध है। जन संख्या में यमन प्रायद्वीप का दूसरा राज्य है। यमन अरब प्रायद्वीप के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित है। इसका क्षेत्रफल ७५ हज़ार वर्गमील और जन-संख्या ३५ लाख है। यमन के शासक की उपाधि 'इमाम' है। मस्कत और उमान का राज्य प्रायद्वीप के पूर्वी किनारे पर है। इसका क्षेत्रफल ८२ हज़ार वर्गमील और जनसंख्या ५ लाख है। यहाँ के शासक की उपाधि 'सुलतान' है। कुवैत फारस की खाड़ी के उत्तर-पश्चिम किनारे पर है। इसकी जनसंख्या १ लाख है। बहरैन द्वीप-समूह फारस की खाड़ी में एक अलग राज्य है। कुवैत और बहरैन के शासक-'शेख' कहलाते हैं। अदन और अदन प्रोटेक्टरेट का सम्बन्ध ब्रिटेन के औपनिवेशिक विभाग से है। इन राज्यों के अतिरिक्त अरब सागर के किनारे छोटी-छोटी दूसरी रियासतें भी है। इन रियासतों मे अँगरेज एजेन्ट रहते हैं।

प्राचीन सभ्यता और इतिहास

चीन और भारतवर्ष की तरह अरब भी एशिया का एक-

प्राचीन देश है। अरब में ईसा से ६०० वर्ष पूर्व के शिला-लेख मिले हैं। कुछ विद्वानों ने अरब के प्राचीनतम शिला-लेखों का समय ईसा से १६०० वर्ष पूर्व बतलाया है। प्राचीन अरब में चार बड़े-बड़े राज्यों का भी प्रमाण मिलता है। इनके नाम मेन, साबा, हद्रमत और कटबैनियाँ हैं। इन राज्यों के विषय में इतिहासकारों की जानकारी बहुत कम है। हद्रमत के विषय में कहा जाता है कि ईसा से ३०० वर्ष पूर्व यूथोपिया (अबीसीनियाँ) की सेनाओं ने इस पर आक्रमण किया और इसे अपने आधिपत्य में कर लिया। दक्षिण-अरब में अबीसीनियाँ का प्रभाव छठीं सदी ईसवी के अन्त तक बना रहा। अरब में इस्लाम से पहले के समय को मुसलमान 'वक्तुल जहीलिया' अथवा 'अन्ध-युग' कहते हैं, किन्तु इतिहासकारों और विद्वानों का मत है कि हज़रतमुहम्मद के समय से पहले कभी अरब एक सभ्य देश था। यनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में तो यहाँ तक लिखा है कि प्राचीन काल में अरब सभ्यता के जिस शिखर-विन्दु पर पहुँच चुका था, उसके बाद फिर किसी समय वह उस विन्दु तक न पहुँच सका। प्राचीन अरब के लोग लेखन और काव्यकला से भिज्ञ थे, वक्तृता एक अच्छी कला समझी जाती थी। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति इस्लामी अरब में उनकी स्थिति से कहीं अच्छी थी। समाज में उनका आदर होता था। पर्दा और हरम की प्रथाएँ न थीं। बहुपति और बहु पत्नी प्रणालियों का प्रचलन था, किन्तु पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार प्राप्त था।

इस्लाम के जन्म और प्रसार से पहले अरब के लोग किस धर्म को मानते थे, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि इस्लाम से पहले अरब में पारसी, यहूदी और ईसाई तीनों धर्मों का न्यूनाधिक प्रभाव था। अरब-

निवासी सूर्य और तारों की पूजा करते थे, इससे यह स्पष्ट है कि अरब में किसी समय ज़ोरेस्टर धर्म के अनुयायी भी रहते थे। मुहम्मद साहब के समय में अरब की प्राचीन सभ्यता का ह्रास हो चुका था। अरबों का सामाजिक जीवन दूषित हो चला था। धर्म के क्षेत्र में तरह-तरह के अन्धविश्वास प्रचलित थे। अरब के लोग मूर्ति बनाकर जिन्हों की पूजा करते थे और उनको प्रसन्न रखने के लिए मनुष्यों की बलि देते थे। जन्म के समय लड़कियों को मार डालने की प्रथा भी व्यापक रूप से प्रचलित थी। संभवतः इन्हीं सामाजिक दोषों और कुप्रथाओं के कारण प्राग इस्लामिक अरब को मुसलमान 'अन्धयुग' कहते हैं।

राजनैतिक दृष्टि से भी छठीं सदी में अरब की स्थिति ठीक न थी। प्रायद्वीप छोटे-छोटे कई राज्यों में बँटा था जो प्रायः आपस में लड़ा करते थे। मुहम्मद साहब के समय में पूर्वी अरब में हीरा, उत्तर-पश्चिम में ग़सान और मध्य अरब में किन्द तीन बड़े राज्य थे। दक्षिण-अरब और किन्द में अबीसीनिया, हीरा में फारस और ग़सान में रोम (बिज़नटाइन) का प्रभुत्व था। इन राज्यों से बाहर प्रायद्वीप में बहुत से कबीले और यहूदी जत्थे भी अशान्ति मचा रहे थे। मुहम्मद साहब ने समाज-सुधार के साथ देश में एकता और शान्ति स्थापित करने का भी प्रयत्न किया। अरबी जनता में राष्ट्रीय भावना को दृढ़ कर देश को विदेशी आधिपत्य से मुक्त करना मुहम्मद साहब की राजनीति का प्रधान लक्ष्य था। उनकी शिक्षा के फलस्वरूप अरबी समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। अरब में एक नए धर्म और एक नई सभ्यता का प्रादुर्भाव हुआ और अरब की काया पलटी ! अपने जीवन-काल में ही मुहम्मद साहब ने अरब को एक शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। प्रायद्वीप से रोम, फ़ारस और अबीसीनियों का प्रभाव जाता रहा। पैग़म्बर की मृत्यु के बाद इस्लामी सेनाएँ पूर्व

और पश्चिम में जिस वेग से बढ़ीं उसमें भी उन्हीं की प्रेरणा वर्तमान थी।

सातवीं सदी से अरब में एक नए युग का आरंभ होता है। इस्लाम के प्रसार के साथ अरब की भौगोलिक सीमाएँ टूटीं और खलीफा के नेतृत्व में अरब एक महान सभ्यता का केन्द्र बन चला, जिसका प्रभाव योरप, एशिया और अफ्रीका तीनों महाद्वीपों में फैला। सातवीं सदी से लेकर १४ वीं सदी तक अरब को स्वर्ण-युग समझना चाहिए। इन सात सौ वर्षों में अरब एक देश नहीं वरन् इस्लामी सभ्यता और संस्कृति का प्रकाश-स्तम्भ बना रहा। दूर दूर के देशों से इसका सम्बन्ध हुआ और अरबी सभ्यता स्पेन से लेकर चीन तक फैली। १५ वीं सदी के आरंभ में मध्य-पूर्व में एक दूसरी शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, वह शक्ति टर्कों की थी। मध्यपूर्व में प्रभुत्व के लिए अरब और टर्की के बीच संघर्ष छिड़ा। वर्षों तक संघर्ष चलता रहा, अन्त में अरब-राष्ट्र पराजित हुए। सीरिया, ईराक, मिस्र आदि देशों के अतिरिक्त अरब प्राय-द्वीप के हेजाज़, यमन, असीर, अलहासा आदि प्रान्त भी टर्की के आधिपत्य में चले गए। १५ वीं सदी से लेकर प्रथम योरोपीय युद्ध के समय तक मध्यपूर्व में टर्की का प्रभुत्व किसी न किसी अंश में बना रहा। १८ वीं सदी में अँगरेज़ों ने भी प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में अपना पैर जमाया और ज्यों-ज्यों टर्की की शक्ति क्षीण हुई त्यों-त्यों मध्यपूर्व में अँगरेज अपना प्रभाव बढ़ाते गए। लगभग ४०० वर्ष तक तन्द्रा में पड़े रहने के बाद बींसवीं सदी के आरंभ में अरब जनता जगी और विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध अरबों में राष्ट्रीय भावना जागृत हुई। १६१३ में अरबों ने अलहासा प्रान्त को टर्की के आधिपत्य से मुक्त किया। प्रथम योरोपीय युद्ध के समय उन्होंने असीर, यमन, हेज़ाज आदि प्रदेशों से भी टर्कों को निकाल भगाया। तुर्की आधिपत्य समाप्त होने पर प्रायद्वीप

के विभिन्न राज्यों में प्रभुत्व के लिए संघर्ष आरंभ हुआ और इस ने गृह-युद्ध का रूप धारण कर लिया। लगभग ६ वर्ष के संघर्ष के बाद अरब में इब्न सऊद का वंश विजयी हुआ और प्रायद्वीप में सादियों के बाद एक शक्ति शाली केन्द्रीय शासन की स्थापना हुई। सन् १९२७ में सऊदी अरब और ब्रिटेन ने सऊदी अरब की स्वतंत्रता और सत्ता को स्वीकार किया। आज सऊदी अरब प्राय-द्वीप का सबसे बड़ा और शक्तिशाली राज्य है। प्रायद्वीप का नेतृत्व सऊदी अरब के हाथ में है।

निवासी और सामाजिक जीवन

अरब-जाति संसार की प्रायः सबसे हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ट जाति मानी जाती है। अरबों का शरीर सुगठित और उनका क़द लम्बा होता है। बेडौल, लॅगड़े-लूले और ठेगने अरबों में बहुत कम पाये जाते है। प्रायः सभी अरब दीर्घायु होते है और बुढ़ापे में भी उनके हाथ पैर चला करते है। चर्मरोग के अतिरिक्त अरबों में दूसरी पैतृक बीमारियाँ भी कम पाई जाती है। अरब एक बहादुर और साहसी कौम है। साहस और बीरता में अपने पुरुषों की तरह अरब स्त्रियाँ भी कुछ कम नहीं हैं। इस्लाम के प्रचार में स्त्रियो ने भी प्रमुख भाग लिया है। युद्ध में आज भी अरब सेना के आगे एक बीरांगना काले रंग मे रंगे ऊँट पर बीर रसकी कविताओं का गान करती हुई चलती है। अरब के पारिवारिक जीवन में अनु-शासन का बड़ा मूल्य है। परिवार में बड़े-बूढ़ों का अदब रहता है और परिवार के सब लोग उनकी आज्ञा का पालन करते है। हमारे देश की तरह अरब में भी संयुक्त परिवार की प्रथा है। अरब के लोग अतिथि-सत्कार के लिए प्रसिद्ध है। जब किसी गॉव या नगर में कोई अतिथि पहुँच जाता है तो वहॉ के धनी-मानी लोगो में प्रायः विवाद चलता है कि मेहमान को पहले कौन ठहराये। अरब स्वभावतः शान्त और गंभीर होते है। लेकिन

सम्मान का उनको हर क्षण ध्यान रहता है। उनके सम्मान को ज़रा भी ठेस लगने पर उनका शान्त और गंभीर स्वभाव उच्छृं-खल हो जाता है और वे आवेश में तुरन्त बदला लेने के लिए तैयार हो जाते हैं। बदला लेने की भावना उनमें इतनी प्रबल होती है कि अपने अपमान को वे कभी भी नहीं भूलते। जीवन में कभी भी अवसर मिलने पर वे बदला लेकर छोड़ते हैं। ये पारस्प-रिक द्वेष और कलह अरबी समाज के प्रगति मे बाधक हैं।

मध्यपूर्व के ईरान और टर्की आदि देशों में पाश्चात्य सभ्यता का गहरा प्रभाव है, किन्तु सामाजिक दृष्टि से अरब आज भी एक मध्ययुगीय देश है। अरबों की रहन-सहन, भोजन-वस्त्र और विचार-धारा में पाश्चत्य सभ्यता का विशेष प्रभाव नहीं है। उनका जीवन आडम्बर हीन और उनकी रहन-सहन सरल और सीधी है। अरब मे वह चमक-दमक नही है जो ईरान और टर्की मे देखने को मिलती है। अरबों की भोजन-सामग्री थोड़ी और उसके तैयार करने की विधि अत्यन्त सरल होती है। मोटा पिसा हुआ आँटा, खजूर, फल और कुछ तरकारियाँ यही अरबों के मुख्य भोजन है। अरब मे चावल का प्रयोग केवल अमीर लोग करते हैं। समुद्र के किनारे लोगों को मछली भी मिल जाती है। शराब और दूसरे मादक द्रव्यों का प्रचलन अरब में अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है। शराब का प्रयोग तो कुरान में बर्जित है अतएव शराब न पीना अधिकांश अरब धार्मिक कर्तव्य समझते है, किन्तु पाश्चात्य प्रभाव के कारण शहरो मे शराब पीने वालों की संख्या अधिकाधिक बढ़ रही है। हमारे देश की तरह अरब में हुक्का पीने की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित है। अरब लोग काफी के बड़े शौकीन हैं, किन्तु विशेषता है कि वे बिना दूध और शकर मिलाये काफी का स्वाद लेते हैं। अरब के शिक्षित वर्ग और सरकारी कर्मचारियों में योरपीय पोशाक लोकप्रिय हो रही है।

सेना में तो अनिवार्यतः योरपीय पोशाक पहना जाता है। किन्तु अधिकांश अरब आज भी अपना चौड़े मुंह का सलवार और कमीच पहनते हैं। अमीर लोग काले या भूरे रंग का एक ढीला लबादा पहनते हैं जो घुटनों से नीचे लटकता रहता है। अरबों का साफ़ा बहुत कुछ वैसा ही होता है जैसा सीमान्त और पंजाब के लोग पहनते हैं। अन्तर केवल इतना है कि अरब लोग अपने साफ़े के चारों ओर सर में एक बड़ा सा रूमाल बाँधते हैं जो गर्दन पर लटकता रहता है। इस रूमाल को वे रेशम की रस्सियों से सजाते हैं। अरब में पर्दे की प्रथा है। अपने घरों से बाहर अरब-स्त्रियाँ बुर्के में चलती हैं और मुँह पर नक़ाब लगाती हैं। भारतीय स्त्रियों की तरह अरब-स्त्रियाँ भी सोने चाँदी के गहनों की शौकीन होती हैं। स्त्रियों के बाल बाँधने का ढंग भी दोनों देशों में एकसा है।

अरब में बड़े-बड़े नगरों को छोड़कर पत्थर के मकान देखने में नहीं आते। अरबों के मकान अधिकतर मिट्टी या कच्चे ईटों के बने रहते हैं। अरब में ईटे पकाने का प्रचलन नहीं है। दक्षिण अरब मे जन-साधारण अपने मकानों को ताड़ के छप्परों से ढकते हैं। अरब के नगरों और गाँवों में चहारदीवारी लगाने की भी प्रथा है। अधिकांश नगरों में कच्ची ईंट के मीनार भी मिलते हैं। अरबों के मकान साधारणतः एक मंज़िले या दो-मंज़िले होते हैं, तिमंज़िले मकान बहुत कम पाये जाते हैं। छतें चौड़ी और मिट्टी की बनी होती हैं। मकानों में बाहरी सजावट नहीं होती, खिड़कियाँ प्रायः छोटी होती हैं। अरबी मकानों की एक विशेषता यह है कि प्रायः हर मकान में एक बड़ा कमरा होता है जिसे अरब के लोग 'कहवा' कहते हैं। यह 'कहवा' उनके काफ़ी-गृह और मेहमान खाने का काम देता है। अपनी हैसियत के अनुसार लोग इस कमरे को सजाते है। जन-साधारण अपने 'कहवा' को चटाइयों से सजाते हैं, धनी-मानी लोग इसे कालीन आदि से

सजाते है। इसी कमरे में वे अपने मेहमानो को ठहराते हैं। 'कहवा' बैठके का काम भी देता है। स्त्रियाँ इस कमरे में बहुत कम आती है। इस कमरे में नमाज़ भी पढ़ा जाता है। जब नमाज़ का समय होता है तो इस कमरे में लोग इकट्ठा हो जाते हैं।

अरब में दासता की प्रथा सदियों तक रही। दासो का व्यापार अफ्रीका से होता था। अरब मे दास-प्रथा का एक अच्छा पहलू यह रहा है कि जब ये दास इस्लाम स्वीकार कर लेते थे तो ७ बर्ष के बाद दासता से मुक्त कर दिये जाते थे। आज १६ वीं सदी की तरह अरब मे दासे। का क्रय-विक्रय नहीं होता, किंतु आज भी अफ्रीका के लोग बहुत बड़ी संख्या में अरब अमीर के यहाँ घरेलू नौकरो का काम करते हैं और सारा जीवन उनकी सेवा में लगा देते है। इन अफ्रीकी सेवकों की स्थिति गुलामी से अच्छी नही कही जा सकती।

शिक्षा के क्षेत्र में भी अरब मध्य पूर्व के दूसरे देशों से पीछे है। नगरों को छोड़ कर आधुनिक शिक्षा प्रणाली के स्कूल प्राय-द्वीप कहीं नहीं हैं। उच्च शिक्षा के सार्वजनिक स्कूल भी देश में कम है। गाँवों में बच्चों की शिक्षा का समुचित प्रबंध नहीं है। प्राचीन प्रणाली के मदरसे प्राय: हर गाँव और कस्बे मे है लेकिन इन मदरसों में बच्चो को केवल धार्मिक शिक्षा दी जाती है और कुरान की आयतों का ज्ञान कराया जाता है। आधुनिक समाज के लिए ये मदरसे सर्वथा अनुपयुक्त है। इनकी उपयोगिता तो तभी है जब इन का पाठ्य क्रम बदल दिया जाय और आधुनिक प्रणाली से शिक्षा दी जाय। सऊदी अरब में सैनिक शिक्षा के लिए कुछ स्कूल खोले गए हैं, लेकिन व्यवसायिक शिक्षा का प्रायद्वीप मे नितान्त अभाव है। देश में शिक्षा की कमी का फल यह है कि अरब समाज मे आज भी तरह-तरह के अन्ध विश्वास प्रचलित है और अरब निवासी आधुनिक युग में रहते हुए आधुनिकता से दूर है।

आर्थिक और राजनैतिक स्थिति

आर्थिक दृष्टि से मध्यपूर्व के देशों में अरब संभवतः सबसे साधन-हीन और अविकसित खण्ड है। अधिकांश अरबी जनता खेती से अपना जीविकोपार्जन करती है, किन्तु देश की भौगोलिक स्थिति के कारण अरब-निवासी अपनी आवश्यकता के लिए भी पर्याप्त अन्न नहीं उपजा पाते। हर वर्ष अरब में विदेशों से अन्न मँगाया जाता है। अरब की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए कृषि में विशेष सुधार की संभावना नहीं है। अन्य बातों के साथ अच्छी खेती के लिए उपजाऊ भूमि और पर्याप्त जल की आवश्यकता होती है। अरब में उपजाऊ भूमि और पानी दोनों की कमी है। रेगिस्तानी भाग में तो किसी प्रकार की खेती हो नहीं सकती, जहाँ कहीं अन्न उगाये जा सकते है वहाँ पानी की कमी के कारण अच्छी उपज नहीं होती। व्यवसाय की स्थिति भी अच्छी नहीं कही जा सकती। अरब में प्राकृतिक साधनों की उतनी कमी नहीं है जितनी इस बात की कि उसके प्राकृतिक साधनों का समुचित विकास नहीं हो पाया है। देश की व्यवसायिक प्रगति मे सबसे बड़ी बाधा यातायत की कठिनाई है। पूरे प्रायद्वीप में केवल एक रेलवे लाइन है जो हेजाज़ में है। वह भी अच्छी दशा मे नहीं है। प्रायद्वीप के मुख्य-मुख्य नगरों को मिलाने वाली कुछ पक्की सड़के हैं जिन पर मोटरें चलती हैं। रेगिस्तानों में यातायात का साधन केवल ऊँट है। अरब के रेगिस्तानी खण्डों में ऊँटों के काफ़िले चलते है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल ले जाते है। अरब के मुख्य निर्यात खजूर के फल, घी, ऊन, भेड़ें, बकरी, घोड़े और ऊँट है। आज से कुछ वर्ष पहले तक सीरिया और मिस्र में अरबी ऊँटों की बड़ी माँग थी, लेकिन जब से इन देशों में यातायात के आधुनिक साधन उपलब्ध हो गए है तब से अरबी घोड़े और ऊँटों का व्यवसाय भी ढीला पड़ गया है। नज्द और बहरैन में

मिट्टी के तैल के कुएँ पाये गए है जहाँ अमेरिकन कम्पनियों के नियंत्रण मे तेल निकाला जा रहा है।

राजनैतिक क्षेत्र में भी अरब अपने पड़ोसी राष्ट्रों से पीछे है। अरब प्रायद्वीप के प्राय: सभी राज्यों का शासन स्वेच्छाचारी शासकों के हाथ में है जो अपने निजी सलाहकारों की सहायता से शासन करते है ; कहीं भी शासन-सूत्र जनता के हाथ में नही है। सऊदी अरब में सन् १९२७ में एक विधान की घोषणा की गई थी। इस विधान के अनुसार बादशाह एक मंत्रिमण्डल की सहायता से शासन चलाता है। मंत्रिमण्डल में बादशाह के दोनो लड़के भी है। इसके अतिरिक्त बादशाह के लड़के क्रमश: नज्द और हेजाज के वाइसराय और अपने प्रान्तों के प्रधान सेनापति भी है। बादशाह और मंत्रिमण्डल को सलाह देने के लिए राजधानी मक्का मे एक परामर्शदात्री असेम्बली है। इस असेम्बली के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित नही वरन बादशाह द्वारा मनोनीत किये जाते है। असेम्बली मंत्रियों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकती और न उनके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव ले आ सकती है। उसका काम केवल परामर्श देना है। मक्का, मदीना और जेद्दा का शासन—म्यूनिसिपल कौंसिलों के हाथ में है किन्तु कौंसिलों के सदस्य भी बादशाह द्वारा मनोनीत या स्वीकृत किये जाते है। इसके अतिरिक्त पूरे-सऊदी अरब में ग्राम और जातीय समितियाँ है। इन समितियों का काम बहुत कुछ हमारी ग्राम-पंचायतों जैसा है। इन समितियों में उस क्षेत्र के प्रधान सरकारी कर्मचारी और बादशाह द्वारा मनोनीत सदस्य काम करते है। गैर सरकारी सदस्य साधारणत: अमीर और धनी-मानी वर्ग के लोग होते है।

अरब का न्याय-विधान शरैअत पर आधारित है। न्यायालयों में क़ाज़ी शरैअत के अनुसार मुकदमों का निर्णय करते हैं। सऊदी अरब में प्रधान न्यायाधीश अपने अधीनस्त न्यायालयों की अपील

सुनता है और समस्त न्याय-विभाग (महकमा शरीया) का संचालन करता है।

हिन्दुस्तान और अरब

भ्रामक धारणा

हमारे देश में प्रायः लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष से अरबों अथवा मुसलमानों का सम्बन्ध मुहम्मद गोरी की विजय के साथ आरंभ हुआ और इसी विजय के बाद मुसलमान भारत में आकर बसे। यह धारणा बहुत कुछ भ्रामक है क्योंकि मुसलमानी विजय से बहुत पहले अरब के लोग इस देश से पूर्णतया परिचित थे और इससे अपना सम्बन्ध जोड़ते थे। भारतवर्ष को अरब-निवासी विजित देश नहीं वरन अपनी पितृ-भूमि समझते थे। सैयदसुलेमान नकवी ने 'हिन्द वो अरब के ताल्लुकात' में लिखा है कि हदीस और तफ़सीरों (कुरान के भाष्य) में जहाँ हज़रत आदम का उल्लेख आया है वहाँ तरह तरह की किवदन्तियों से यह सिद्ध होता है कि हज़रतआदम जब स्वर्ग से संसार में आये तो पहले पहल वह इस संसार के स्वर्ग हिन्दुस्तान (हिन्दुस्तान जिन्नत निशां) में उतरे। 'सरनदीप' (लंका) में उन्होंने अपना पहला क़दम एक पहाड़ी पर रखा जिसे आज भी मुसलमान और ईसाई आदम की चोटी कहते हैं। दूसरे अरबी ग्रन्थों में यह भी उल्लेख आया है कि जिस भूखण्ड में हज़रतआदम उतरे उसका नाम 'दजना' था। कुछ विद्वानों का मत है कि यह 'दजना' हिन्दी का 'दकिवना' या 'दक्खिन' है जो भारतवर्ष के दक्षिण भाग का विख्यात नाम है। प्राचीन अरबों की यह धारणा थी कि चूंकि हज़रतआदम सबसे पहले हिन्दुस्तान में उतरे* और यहीं उनको

---

* अरब और योरप के लोग लंका को भारतवर्ष का ही खण्ड समझते थे।

आकाशवाणी हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यही वह देश है जहाँ ईश्वर की पहली आकाश-वाणी हुई। यही कारण है कि अरब के लोग हिन्दुस्तान को पवित्र भूमि मानते थे। हज़रत-मुहम्मद भी कहा करते थे कि "मुझे हिन्दुस्तान की ओर से रब्बानी खुशबू (ईश्वरीय गंध) आती है।"

यह तो हुई प्रागऐतिहासिक सम्बन्ध की बात। ऐतिहासिक दृष्टि से भी अरब के लोग मुसलमानी विजय से बहुत पहले भारत-वर्ष से परिचित थे। इतना ही नहीं मुसलमानी विजय से पहले अरब दक्षिण-भारत और लंका में बस चुके थे। दक्षिणी भारत में इनकी बस्तियाँ अधिकतर समुद्र-तट के नगरों और बन्दरगाहों के पास थीं। इन उपनिवेशों के निवासी अरब व्यापारियों और नाविकों की सन्तान थे जो धीरे-धीरे यहाँ बस गए। मुसलमानी विजय से पहले कालीकट, बीजापूर, सिन्ध और मुल्तान आदि स्थानों में अरब-उपनिवेशों के प्रमाण मिलते है।

अरब और हिन्दुस्तान का व्यावसायिक सम्बन्ध

अरब और हिंदुस्तान का पहला सम्बन्ध व्यावसायिक था। इस्लाम के जन्म से सदियों पहले अरब व्यापारी हिन्दुस्तान के समुद्री तट पर आते थे और यहाँ से व्यापार की वस्तुएँ पश्चिमी देशों में और पश्चिमी देशों से व्यवसाय की वस्तुएँ हिन्दुस्तान और दूसरे पूर्वी देशों में पहुँचाते थे। व्यापार अधिकतर समुद्री मार्ग से होता था। फ़ारस की खाड़ी से चल कर अरब व्यापारी सिन्ध और हिन्दुस्तान के दूसरे भागों में पहुँचते थे। अरबी जहाज़ हिन्दुस्तान के दरियाई शहरों में चक्कर लगाते थे। गुजरात के प्रसिद्ध बन्दरगाह भड़ौच से अरब नाविक भली भाँति परिचित थे और अपनी भाषा में इसे 'बरूस' कहते थे।

ईरान विजय के बाद अरब के लोग जब हिन्दुस्तान की ओर बढ़े तो उन्होंने सबसे पहले यहाँ के बन्दरगाहों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। हज़रत उमर के शासन काल में इन्हों ने थाना (बम्बई) बरूस, ठट (वर्तमान कराची) को अपने अधिकार में कर लिया। हज़रतउमर ने एक अरब नाविक से पूछा कि हिन्दुस्तान के विषय में तुम्हारी राय क्या है। उसने तीन वाक्यों में उत्तर दिया जो इस प्रकार है:—"बहरहादुर, जबरनहा याकूत, शजरहा इत्र।" अर्थात् "इसकी नदियाँ मोती है उसके पहाड़ कोमती पत्थर है और उसके वृक्ष इत्र है।"

इससे यह स्पष्ट है कि अरब के लोग ७ वी सदी में हिन्दुस्तान से मोती, जवाहरात, और खुशबूदार चीजें अपने देश में ले जाते थे। अरब जाने वाली खुशबूदार चीजों में आबनूस, जायफल, कपूर, कबाबचीनी, ऊद, (एक लकड़ी) लौंग, चन्दन, नारियल और मुश्क प्रधान थी। इनके अतिरिक्त मालाबार से कालीमिर्च, गुज़रात से सीसा, सिन्ध से कुट (एक दवा) बाँस और बेंत, काठियावाड़ से जैतून का तेल, थाना (बम्बई) से टाट, रुई और मखमली कपड़े भी हिन्दुस्तान से अरब जाते थे। हिन्दुस्तान से जो कपड़े अरब जाते थे वे थाना के कपड़े कहलाते थे। ये कपड़े थाना में बनते थे या देश के विभिन्न भागों से निर्यात के लिए थाना पहुँचाये जाते थे, इसका पता नहीं है।

अरब और हिन्दुस्तान में किन वस्तुओं पर व्यापार होता था इसका एक प्रमाण उन शब्दों से मिलता है जो अरबी और हिन्दी में प्राय. एक से हैं। ऐसे कुछ शब्दों की सूची हम नीचे दे रहे है। ये शब्द सैयद सुलेमान नक़वी की 'अरब वोहिन्द के ताल्लुक़ात' से लिए गए हैं :—

अरबी नाम	हिन्दी नाम
सन्दल	चन्दन

अरबी नाम	हिन्दी नाम
तम्बूल	ताम्बूल
कापूर	कपूर
करनफल	कनकफल (लौंग)
फिलफिल	पिप्पली
फोफ़ल	कोवल (सुपारी)
नीलोफर	नीलोबल (बेरा)
जन्जवील	जरंजा वीरा (सोंठ)
मसक	मोशक (मशक) (उर्दू)

औषधियों के नाम

जायफल	जायफल
अतरेफल	त्रिफला
शख़ीरा	शक्खर (तूतिया)
बलीजा	बहेड़ा
हलीलज	हर्रा
बलादुर	भिलावाँ (भिलाँका या भेला)

कपड़ों के नाम

करफस	कृपास—(मलमल)
शीत	छींट

फलों के नाम

मोज़	मोशा (केला)
नारलीज	नारियल
अम्बज़	आम
लेमं	नीबू

रंग

अरबी नाम	हिन्दी नाम
नीलज	नील

राजनैतिक सम्बन्ध

हिन्दुस्तान और अरब का राजनैतिक सम्बन्ध मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध-विजय के समय से आरम्भ होता है। सन् ७ २ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर चढ़ाई की। इस अरबी हमले का कारण यह बतलाया जाता है कि गुजरात के निकट हिन्दुस्तानी समुद्री डाकुओं ने एक अरब जहाज़ को लूट लिया और अरब स्त्रियों का अपमान किया। हेजाज़ के गवर्नर ने, जो अरब साम्राज्य के पूर्वी प्रांतों और अधिकृत देशों का शासक था, सिन्ध के तत्कालीन राजा दाहिर से उक्त काण्ड का हर्जाना माँगा। दाहिर की ओर से सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर हेजाज़ के गवर्नर ने अपने भतीजे मुहम्मद बिन कासिम को दाहिर से बदला लेने के लिए भेजा। लड़ाई में दाहिर की हार हुई और सिन्ध पर अरब आधिपत्य स्थापित हुआ। अरबों ने सिन्ध पर लगभग दो सौ वर्ष तक शासन किया। कुछ इतिहासकारों का मत है कि सिन्ध में अरब-शासन न्यायपूर्ण और उदार था। अरब शासकों ने हिन्दू और बौद्ध प्रजा के साथ अच्छा बर्ताव किया और उनके धर्म में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया। सिन्ध में अरब-शासन का भारतवर्ष की राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि बग़दाद के पतन के बाद सिन्ध अरबों के हाथ से निकल गया और कुछ ही दिनों में हिन्दू राजाओं ने अरब सरदारों को पराजित कर सिन्ध पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। किन्तु राजनैतिक क्षेत्र से बाहर अरब-शासन का दोनों देशों पर गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दुस्तान और अरब एक दूसरे के निकट आये और इसी समय से दोनों

देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान आरंभ हुआ जो सदियों तक जारी रहा।

भारतीय ज्ञान, विद्या और कला के विषय में अरब के लोग पहले ही सुन चुके थे। सिंध विजय के बाद उन्हें भारतीय ज्ञान-विज्ञान, कला और दर्शन की जानकारी प्राप्त करने का अच्छा अवसर मिला। सन् ६७१ ई० में भारतीय विद्वानों का पहला कारवाँ बग़दाद पहुँचा। इन विद्वानों मे एक ज्योतिष और गणित का भी पण्डित था। खलीफा ने इन विद्वानों का बड़ा सम्मान किया और एक अरबी विद्वान की सहायता से भारतीय गणित के कुछ ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में कराया। अरब शासकों की उदारता और गुण-ग्राहकता के कारण भारतवर्ष से ख्याति-प्राप्त विद्वान और पण्डित अरब की ओर चल पड़े। खलीफा मन्सूर और हारूँ रशीद के शासन-काल में बहुत से भारतीय विद्वान बग़दाद पहुँचे और उन्होंने भारतीय गणित, ज्योतिष, सिद्धांत, आयुर्वेद, साहित्य, नीति, धर्म-शास्त्र, संगीत आदि अनेक ग्रंथों का अनुवाद अरबी मे किया। संस्कृत से अनूदित ग्रंथो में से आज भी बहुत से ग्रंथ अरब और दूसरे इस्लामी देशों में वर्तमान है। सिन्ध विजय के बाद अरब में भारतीय विद्वत्ता की धाक किस तरह जमी हुई थी इसका आभास नीचे दिये हुए उद्धरण से मिलता है। नवीं सदी में याकूबी नाम का एक अरब इतिहासकार भारतवर्ष के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखता है:—

"हिन्दुस्तान के लोग बड़े बुद्धिमान और विचारक हैं। विद्वत्ता में ये सब जातियों से आगे है। ज्योतिष और नजूम में इनकी बातें सबसे अधिक दुरुस्त निकलती है। 'सिद्धान्त' इन्हीं के मस्तिष्क की देन है।......वैद्यक में इनका निदान सबसे बढ़ा हुआ है। इस विद्या में इनके ग्रंथ 'चरक' और 'निदान' हैं। वैद्यक में इनके दूसरे ग्रंथ भी हैं।............"
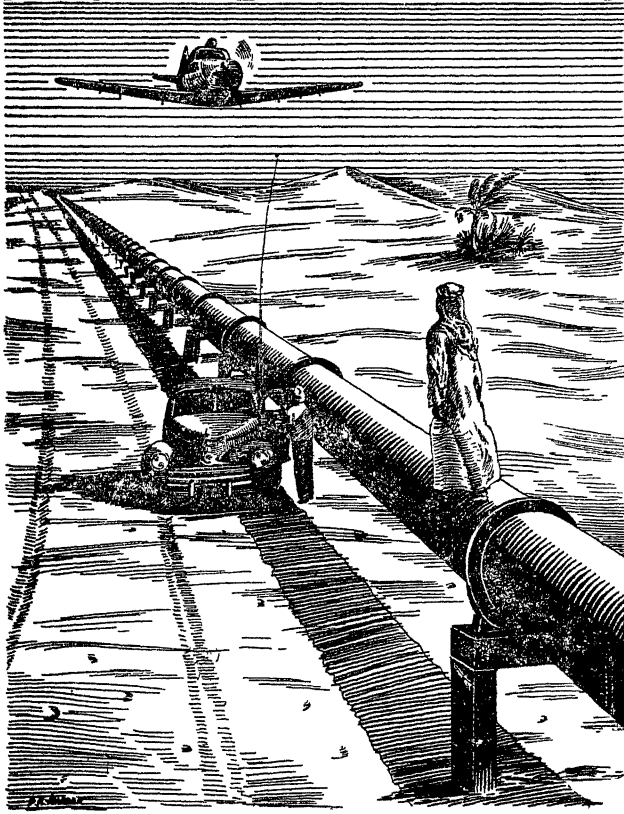
ट्रान्स-अरेबियन पाइप-लाइन

अरब और भारतीय वैद्यक

भारतीय ज्ञान-भण्डार में अरब के लोग विशेष रूप से वैद्यक की ओर आकर्षित हुए। अरब में भारतीय वैद्यक खलीफा हारूँ-रशीद के समय से लोक प्रिय बना। कहा जाता है कि खलीफा हारूँरसीद एक बार बहुत बीमार पड़े। बग़दाद और अरब के प्रसिद्ध वैद्यों ने उनकी दवा की, लेकिन खलीफा को स्वास्थ्य-लाभ न हुआ। कुछ लोगों ने खलीफा से एक भारतीय वैद्य का उल्लेख किया जिसका नाम 'मनका' या 'मानिक' था। हारूँ रशीद ने इस वैद्य को हिन्दुस्तान से बुलवाया। मानिक की दवा से खलीफा की बीमारी अच्छी हो गई। फिर क्या था खलीफा ने इस भारतीय वैद्य को भली-भाँति पुरस्कृत किया और इसे अपने 'दारुल तरजुमा' (अनुवाद विभाग) में भारतीय ग्रंथों के अनुवाद के लिए नियुक्त किया। इस घटना के बाद बहुत से भारतीय वैद्य बगदाद में रहने लगे और खलीफाओं ने उनमें से बहुतों को अच्छे पदों पर नियुक्त किया। इसी समय से अरब के लोग भी भारतीय आयुर्वेद की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। हिन्दुस्तानी जड़ी-बूटियों और दवाओं की खोज में अरब से लोग यहाँ भेजे गए। वैद्यक की जिन पुस्तकों का अनुवाद अरबी में हुआ उनमें से दो ग्रंथ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। पहला ग्रंथ शुश्रुत है जो दस खण्डों में था और अरब के लोग इसे 'सुस्रु' कहते हैं। इसमें रोगों की पहचान और उनके इलाज का वर्णन है। शुश्रुत का अरबी अनुवाद मानिक ने किया और यह अनूदित ग्रंथ बग़दाद के सरकारी अस्पताल में प्रमाणित ग्रंथ के रूप में रखा गया। दूसरा ग्रंथ 'चरक' है। 'चरक' का अनुवाद पहले फ़ारसी में हुआ और फिर फ़ारसी से अरबी में हुआ। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त स्त्री-चिकित्सा, गर्भ-निदान, मादक-द्रव्य, पशु-चिकित्सा, आदि विषयों पर हिन्दुस्तानी ग्रंथों का अनुवाद भी अरबी में किया गया। सर्प-विद्या पर 'राय'

नामक एक पण्डित ने एक ग्रंथ का अनुवाद किया जिसमें साँपों के भेद और उनके विषय का वर्णन था।

वैद्यक के अतिरिक्त अरबों ने भारतीय ज्ञान-भण्डार के दूसरे तत्वों का भी स्वाद लिया। ज्योतिष में जिन ग्रंथों का अनुवाद अरबी में हुआ उनमें कुछ के नाम ये हैं :—

संस्कृत	अरबी
१.—बृहस्पति सिद्धांत	अल सिंद्धंद
२.—आर्यभट्ट	अर्जबन्द
३.—खण्ड खण्डयक (१)	आरकन्द या अहरकन

चाणक्य और व्याघ्र के ग्रन्थों का भी अनुवाद अरबी में हुआ। चाणक्य के ग्रंथों का अरबी में 'चानक' या 'शमाक' नाम पड़ा। 'याखर' या 'याफ़र' संभवतः व्याघ्र का अरबी नाम है। 'चानक' या 'शमाक' में युद्ध-क्षेत्र का प्रबन्ध और सेना नायकों की नियुक्ति आदि का वर्णन है। 'याफ़र' या 'याखर' में तलवार की पहचान, उसकी विशेषता और उसके चिन्हों का वर्णन है। अरब में हिन्दुस्तान की बनी हुई तलवार बहुत प्रसिद्ध थी इसलिए अरबों ने तलवार का नाम हिन्दी या 'हिन्दवानी' महन्द रखा उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त, कीमियागरी, जादूगरी, मंत्र शास्त्र, खेल-तमाशे पर भी कुछ भारतीय ग्रंथों का अनुवाद अरबी में हुआ।

इस प्रकरण में इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि अरब और भारतवर्ष के बीच इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान में अरबी विद्वानों ने भी हाथ बटाया। अरबी विद्वानों में अबूरेहान बेरूनी का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। बेरूनी ख्वारिज़म का रहने वाला था और वह गणित का प्रसिद्ध विद्वान था। कहा जाता है कि बेरूनी, अरबी, फ़ारसी और संस्कृत तीनों भाषाओं का ज्ञाता था। इसने भारतवर्ष आकर संस्कृत का अध्ययन किया।

बेरूनी भारतवर्ष मे उस समय रहा जब उत्तरी भारत पर महमूद गजनवी के हमले हो रहे थे। बैरूनी ने संस्कृत से फारसी और अरबी में तथा फारसी और अरबी से संस्कृत मे अनेक प्रसिद्ध ग्रंथो का अनुवाद किया। बेरूनी ने अरबी और फारसी से संस्कृत मे किन ग्रंथो का अनुवाद किया इसका हमें ज्ञान नही है। संस्कृत से अरबी और फारसी में इसने जिन ग्रंथों का अनुवाद किया उनमें से ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मसिद्धांत, भारतीय रेखागणित, भारतीय त्रैराशिक, सांख्य और पातञ्जलि योग प्रधान है।

मुहम्मद गोरी की विजय के बाद जिस समम हमारे देश में मुस्लिम आधिपत्य स्थापित हुआ उस समय से भारतवर्ष और मध्यपूर्व के सम्बन्धो मे एक नए अध्याय का आरंभ होता है। अरब, टर्की, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशों से मुसलमान आकर यहाँ बसे और लाखों की संख्या मे हमारे देश-वासियो ने भी इस्लाम धर्म स्वीकार किया। इस्लाम के प्रसार के साथ अरबी सभ्यता हमारे देश मे आई। अरब और भारतवर्ष एक दूसरे के निकट सम्पर्क मे आये। भारतीय संस्कृति का प्रभाव आगन्तुको पर और अरबो संस्कृति का प्रभाव भारतीयों पर पड़ा। मुसलमानी विजय के समय से लेकर आज तक हमारा सांस्कृतिक सम्बन्ध अटूट रूप से चला आ रहा है। इस दीर्घकालीन सम्पर्क में अरब और भारतवर्ष ने एक दूसरे को बहुत कुछ दिया और सीखा। अरबी सभ्यता का प्रभाव हमारे ऊपर स्पष्ट है। अपने दैनिक जीवन में आज हम हजारो अरबी शब्दों का प्रयोग करते है, यद्यपि हम यह नही जानते कि ये शब्द अरबी के है। हमारे देश से प्रतिवर्ष हज़ारों मुसलमान मक्का और मदीना की ज़ियारत के लिए जाते हैं और अरब के साथ अपने सांस्कृतिक सम्बन्ध को दृढ़ कर आते है। इतना ही नहीं, अरब के साथ हमारा व्यवसायिक सम्बन्ध भी अटूट रूप से चला आया है। हमारे राष्ट्रीय

आन्दोलन और स्वतंत्रता-संग्राम में मध्यपूर्व के दूसरे राष्ट्रों के साथ अरब ने भी हमसे सहानुभूति दिखलाई और हम एक दूसरे के निकट आते गए। किन्तु इसी बीच में हमारे देश में पाकिस्तान आन्दोलन छिड़ा, देश के बँटवारे की नौबत आई। सन् १९४७ के साम्प्रदायिक कलह और विभीषिका और उससे अधिक पाकिस्तान द्वारा भारत-विरोधी प्रचार के कारण मुस्लिम राष्ट्रों में हमारे प्रति कुछ कटुता आ गई, किन्तु संतोष की बात है कि पाकिस्तान द्वारा किये गए भ्रामक प्रचारों का प्रभाव मध्यपूर्व के देशों में घट रहा है और हमारा विश्वास है कि वह समय दूर नहीं जब मध्यपूर्व से हमारा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होगा।
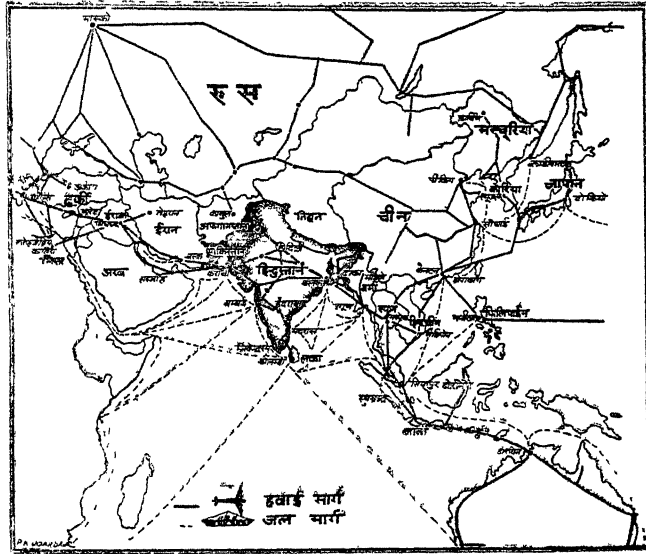
आकाश तथा जल-मार्ग

परिशिष्ट

जैसा पहले कहा जा चुका है हमारे पड़ोस के राष्ट्रों में आज क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे है। दक्षिण-पूर्व एशिया और चीन में घटना-चक्र जिस वेग से चल रहा है उसका अनुमान लगाना प्रायः कठिन है। क्षण-क्षण स्थिति बदलती जा रही है। अतएव इसमें आश्चर्य ही क्या कि इस भूखण्ड में कुछ महीने पहले जो स्थिति थी वह आज नहीं है। हिन्द एशिया में प्रजातंत्र और डच सरकार के बीच युद्ध स्थगित हो गया है। ७ मई सन् १९४९ के 'रोयम-वान रोयन' समझौते के अनुसार डच-सरकार ने प्रजातंत्र की सत्ता को स्वीकार कर लिया है। प्रजातंत्र के नेता जो युद्ध के आरंभ में नजरबन्द कर लिये गए थे, मुक्त कर दिये गए है। हिन्द एशिया के वैधानिक प्रश्न को लेकर हेग में एक सर्वदल सम्मेलन हो रहा है। इस सम्मेलन में प्रजातंत्र के प्रतिनिधि भी सहयोग दे रहे है। किन्तु वे हिन्द एशिया की पूर्ण स्वतंत्रता की माँग पर दृढ़ है।

इधर हिन्द चीन की स्थिति भी बदल गई है। फ्रेन्च सरकार और भूतपूर्व सम्राट् बाओदाई के बीच जो सन्धि वार्ता चल रही थी उसके फलस्वरूप बाओदाई वियतनाम के सम्राट घोषित कर दिये गए है। फ्रान्स ने वियतनाम और कोचीन-चीन की एकता को स्वीकार कर लिया है। किन्तु बाओदाई के साथ इस समझौते से वियतनाम में शान्ति नहीं है। हो-चीमिन्ह का राष्ट्रवादी दल

दल इस समझौते से असन्तुष्ट है और इसे साम्राज्यवाद की एक चाल समझता है।

चीन का गृह-युद्ध अभी भयंकर लपटें फेंक रहा है। कम्यूनिस्ट सेना वेग के साथ बढ़ती जा रही है। कुंमिङ्गताङ्ग की शक्ति दिन प्रतिदिन क्षीण होती दिखलाई पड़ती है और साथ ही यह भी स्पष्ट है कि चीनी जनता उस पर विश्वास खो चुकी है। मध्य-चीन के नानकिन, शंघाई, चॉगसा, फूचाऊ आदि नगर और व्यवसायिक केन्द्र कम्यूनिस्टों के अधिकार-क्षेत्र में आ गए हैं। दक्षिण चीन में उनका बढ़ाव जारी है।

भूटान और भारतवर्ष के बीच मैत्री-सन्धि की घोषणा हो चुकी है। भूटान के शासक ने भारतवर्ष के साथ पूर्ववत् सम्बन्ध रखना स्वीकार कर लिया है। भूटान के आन्तरिक शासन में भारत सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी, किन्तु उसके वैदेशिक सम्बन्धों पर भारत सरकार का नियंत्रण रहेगा। भूटान-निवासियों को भारतवर्ष में व्यापार करने की स्वतंत्रता होगी। भारतवर्ष भूटान को हर वर्ष पॉच लाख रुपया आर्थिक सहायता के रूप में देगा। पत्रों में जो समाचार निकला है उससे यह भी ज्ञात होता है कि भारत सरकार ने दारजिलिङ्ग की सीमा पर कुछ भूमि भूटान को वापस देने का वचन दिया है। सिक्खम का वैधानिक प्रश्न भी सुलझ गया। भारत सरकार की ओर से वहॉ दीवान नियुक्त कर दिया गया है।

सहायक पुस्तक-सूची

अँग्रेजी

1 The Discoverv of India — *Jawahar Lal Nehru*

2 Ancient Indian Colonies in the Far East Vol I Champa — *Dr R C Majumdar*

3 Indian Cultural Influence in Cambodia — *Bijau Raj Chatterji*

4 The Indian Colony of Siam — *P N Bose*

5. A History ef Siam — *W A R Wood*

6 In Javanese Water ... *H W Ponder*

7 Burma and the Japanse Ind-ader . *J. L Christian*

8 India Island Goes to Sehcol . *Edwin R Emloce & others*

9 The Modern China — *Yan Shan*

01. China—Her Life and People — *Cable and French*

11 China at the Cross—Roads — *Kai Shek*

12. China and India — *S Radha Krishnan.*

13 The Lands of—the Thenderbolt — *The Earl of Ronaldhay*

14 The People of Tibet — *Charles Bell*

15 Nepal— . *D. R. Regmie*

16 Iran— . *S Hass.*

17 The Oxford Pamphlets on Indian Affairs

81 Mardeka—Published by the Indonesian Information Service, New Delhi

हिन्दी

१ तिब्बत में तीन वर्ष .. (इकाई का वागुची)

२. कैलाश मानसरोवर . (स्वामी प्रणवानन्द)

३. सोवियट भूमि .. (राहुल साकृत्यायन)

उर्दू

१. हिन्द वो अरब के ताल्लुकात (सैयद सुलेमान नकवी)